

भारतीय
वास्तु शास्त्र

हिन्दू-प्रासाद



[चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि]

H
722.41
Sh 92 H

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
संस्कृत-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

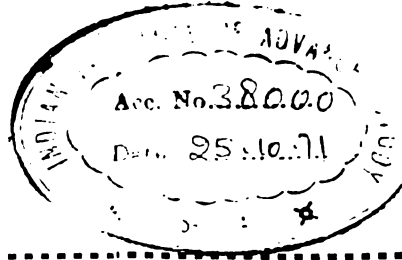
हिन्दू-प्रासाद

[चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि]

१. वैदिकी
२. पौराणिकी
३. लोक-धर्मिणी
४. राजाश्रया

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
संस्कृत-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, फैजाबाद रोड
लखनऊ



लेखक की प्रकाशित कृतियाँ

१.	भारतीय वास्तु-शास्त्र	वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश मूल्य ८॥७
२.	”	प्रतिमा-विज्ञान ” १५७
३.	”	प्रतिमा-लक्षण ” १२७
४.	”	चित्र-लक्षण ” २७
५.	”	❀ हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि ” ३७

In Press :—

1. Hindu Iconography 700 pages price Rs. 30/-
2. Hindu Science of Architecture 700 pages „ Rs. 30/-

❀ यह पुस्तक लेखक के 'प्रासाद-वास्तु' का एक अंश-मात्र है। जनोपयोगिता की दृष्टि से यह अंश अलग से भी प्रकाशित हो रहा है।

श्रा० २०१४ वि०



Library IAS, Shimla

H 722.41 Sh 92 H



38000

मुद्रक
पं० बिहारीलाल शुक्ल
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस
लखनऊ

विषय - प्रवेश

हिन्दू-प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एवं भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नहीं सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहाँ का स्थापत्य यज्ञ वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिखा पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द में जैसा हम आगे देखेंगे प्रकर्षण सादनम् (चयनम्) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चित्त के कलेवर-निर्माण में प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर में हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की पृष्ठ-भूमि बनी।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं बौद्धिक, मानसिक तथा कल्पनिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक प्रगतियों में वास्तु-कलात्मक कृतियाँ एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियाँ हैं। ये कृतियाँ इष्टका-पाषाण आदि चिरस्थायि द्रव्यों से आवृद्ध होकर युग-युग तक इस सांस्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नहीं प्रस्तुत करती हैं वरन् प्राचीन सांस्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एवं जाति की वास्तु-कृतियों में तत्तद्देशीय एवं तत्तज्जातीय विशेषताओं की छाप रहती है। यूनान, रोम आदि देशों की वास्तु-कला की विशिष्टताओं से हम परिचित ही हैं (देखिये, भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एवं पुर-निवेश—पृष्ठ १६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहाँ की वास्तु-कला (जो विशेषकर मन्दिर-निर्माण में पनपी, वृद्धिगत हुई और मन्दिर के उत्तुंग शिखर के समान ऊँची उठी) का आधार-भूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एवं विश्वास को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करके उनके प्रतीकत्व का कल्पन ही नहीं है वरन् इस देश के दर्शन एव पुराण में प्रतिष्ठापित तत्वों के रहस्यों का विजृम्भण भी। यहां के मन्दिरों के निर्माण में जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा में देवमिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एवं उसका आकार एवं विस्तार तथा उपसंहार सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद-वास्तु के विकास में हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजों ने पाषाण-पट्टिकाओं (Dolmens and Menhirs) से तथा आरख्यक वनस्पतियों की वन्दनवार एवं मण्डपों से अलङ्कृत पूजा-गृहों की निर्मित की वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव मिलन की कथा एकाङ्गी नहीं है। मानव देव से मिलने के लिए ऊपर उठता है तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छुट्टी से लाया है। प्रासाद-वास्तु की रूप-रेखा में दोनों तत्व चित्रित हैं। प्रासाद के उत्तुंग शिखर में देवत्व की खोज मानव के प्रयास का प्रतीक है और जहाँ पर यह प्रासाद-शिखर विन्दु में अवसान प्राप्त करता है वही मानव-देव-मिलन है अथवा मानवता का देवत्व में विकास है या मानवता एवं देवत्व की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार बहुसंख्यक प्रासाद-रचनाओं में जिस प्रकार मानव देवत्व की ओर बढ़ता हुआ चित्रित किया जाता है उसी प्रकार देवता मानव

की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मन्दिरों में—देखो तेजपाल मन्दिर आवृ पर्वत) भी प्रदर्शित है ।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के इस सवाङ्गीय दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणों की पुरण-भूमि पर पल्लवित हुई है । मन्दिर-निर्माण वापी, कूप एवं तड़ागादि निर्माण के समान पूर्व-धर्म की संस्था है । आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय होगी । व्यवहारिक रूप से परोपकारार्थ भी धर्मार्थ समझा गया । प्रायः सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एवं तड़ागादि की महिमा गाई है । सूत्र-ग्रन्थों में तो इस संस्था का बड़ा ही गुण-गान है । हिंदू-धर्मशास्त्रों में वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन संस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है । अतः आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यावहारिक सभी दृष्टियों से हमें इस प्राचीन संस्था का मूल्याङ्कन करना होगा ।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गतों एवं आवतों का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ़ एवं सनातन, दिव्य एवं ओजस्वी, कान्त एवं शान्त, स्कन्धों पर हिन्दू-प्रासाद की बृहती शिलाओं का न्यास हुआ है । हिन्दू-प्रासाद, हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं दर्शन, प्रार्थना, मंत्र एवं तन्त्र, यज्ञ एवं चिन्तन, पुराण एवं काव्य, आगम एवं निगम, का पुञ्जीभूत मूर्त्त रूप है । भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नहीं है । सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वयं लौकिक नहीं ; वह अलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्व की मूर्त्तिमती व्याख्या है । यह मूर्त्तिमान आकार ऐसे ही नहीं उदय हो गया । शताब्दियों की सांस्कृतिक प्रगतियों के संघर्ष से जो अन्त में उपसंहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू-प्रासाद है । इसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन में भारतीय संस्कृति के विकास की नाना परम्पराओं—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दाशेनिक आदि की देन का मूल्यांकन करना होगा । श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा से उद्भाविता एवं भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्भाषित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या में जिन नाना पृष्ठ भूमियों के दर्शन करना है उनमें वैदिकी, पौराणिकी, राजाश्रया, एवं लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य हैं । इन नाना पृष्ठ-भूमियों की र्ममांसा में आगे के चार अध्यायों की अवतारणा की गई है । अतः इनके सम्बन्ध में यहां विशेष संकीर्तन आवश्यक नहीं । इस विषय-प्रवेश में पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदेव-हेतुक बहुत कम रहा है । भारतीय स्थापत्य का मुकुटमणि किंवा उसकी सर्वातिशायिनी कला अथवा उसका मूर्त्तिमान स्वरूप (शरीर एवं प्राण) हिन्दू-प्रासाद है । हिन्दू-संस्कृति की लोकव्यापिनी यह प्रोज्वल पताका है । हिन्दू-प्रासाद मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नहीं देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है । सागर एवं विन्दु, जड़ एवं चेतन, आत्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में हिन्दू शास्त्र-कारों ने कलम तोड़ रखी है । हिन्दू-स्थपतियों ने भी अपनी छेनी और बसूनी अदि सूत्राटक (दे० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से वही कमल दिखाया है । क्रान्त-दर्शी मनीषी कवियों (ऋषियों) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व के निष्पन्द में छन्द-ग्रन्थ एवं वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिञ्जन का सूत्रपात किया है वही परिणाम

प्रख्यात स्थपतियों की इन महाविभूतियों में भी पाया गया है। इष्टका एवं पाषाण की इस रचना में धर्म एवं दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अतः इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू-प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता में लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक निःश्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ, चिन्तन-ध्यान, योग-वेराग्य, जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ यात्रा, देव-दर्शन, देवालय-निर्माण—एक शब्द में इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न संस्थाओं एवं परम्पराओं ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी में मानव की घर्म-पिपासा, एवं अध्यात्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता में अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नहीं, उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नहीं। उसकी रागात्मिका प्रवृत्ति भी एक सी नहीं। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नहीं। अतः मानवों की विभिन्न कोटियों के अनुरूप, साध्य पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना साधना-पथों का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य हैं लक्ष्य तो एक ही हैं। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। संसार, मानवता एवं देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग में नहीं सुनाई देता जहाँ मानव-देव-मिलन है। संसार-यात्रा एवं मानव का ऐहिक जीवन दोनों ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोगशाला हैं। देशकाल की सीमाओं ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अग्रणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव पूजा, देव-प्रतिष्ठा एवं देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एवं सर्व-लोकोपकारी संस्था साबित हुई हैं। तपोधन तपस्वियों एवं ज्ञान-धन ज्ञानियों से लेकर साधारण से साधारण विद्या-बुद्धि वाले प्राकृत जनों—सभी का यह मनोरम एवं सरल साधनापथ है।

अस्तु, हिन्दू-प्रासाद अथवा 'प्रासाद-वास्तु' की समीक्षा में इस ग्रंथ में इसी आधार-भौतिक दृष्टि से जहाँ आगे 'पूर्वपीठिका' में वास्तु शास्त्रीय विभिन्न सिद्धान्तों (Canons) के समुद्घाटन का प्रयत्न होगा। अथवा 'उत्तर-पीठिका' में जहाँ शास्त्र एवं कला के समन्वय की दृष्टि से विभिन्न कालों में निर्मित विमानों एवं प्रासादों का संकीर्तन होगा वहाँ इस 'पृष्ठ-भूमि' में प्रासाद की पृष्ठ-भूमि के कतिपय गतों एवं आवर्तों की गहराई का अनुमान भी आवश्यक है।

अन्त में इस 'विषय-प्रवेश' को समाप्त करने के प्रथम इस 'पृष्ठ-भूमि' के आगे के अध्यायों के विवेच्य विषय पर एक दो संकेत आवश्यक हैं। 'हिन्दू-प्रासाद' की पृष्ठ-भूमि के मूल्याङ्कन में तीन दृष्टिकोण प्रधान हैं—कलात्मक, दार्शनिक एवं धार्मिक। प्रथम से तात्पर्य उसके कलेवर के नाना अङ्गों एवं उपाङ्गों की रचनाओं एवं निवेशों से है। 'प्रासाद-निवेश' की कलात्मक समीक्षा का एक दृष्टिकोण नहीं हो सकता। किसी भी कला के दो पक्ष—मूर्त एवं अमूर्त (पार्थिव एवं अपार्थिव) अनिवार्य हैं अन्यथा वह कला ही नहीं। इस दृष्टि से कलात्मक समीक्षा में प्रासाद-निर्माण के नाना निवेश-सिद्धान्तों में यहाँ 'वैदिकी'

में केवल एक ही दो तथ्यों पर विशेष विचार अभीष्ट है । आगे चलकर हम इस विषय पर विशेष विचार करेंगे (दे० प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास) । दूसरे से यथानाम दार्शनिक दृष्टिकोण से है जिसका विशेष समुद्घाटन तो आगे चलकर 'प्रासाद' शब्द के वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ—दोनों की मीमांसा में होगा । परन्तु प्रासाद के निवेश के प्राथमिक अङ्ग वास्तु-पुरुष-मण्डल की एतद्विषयिणी समीक्षा (दे० वैदिकी) में इस दृष्टि से कुछ प्रयत्न इसी पृष्ठ-भूमि पर किया जायेगा । तीसरे अर्थात् धार्मिक दृष्टि-कोण से पुनः दो अवान्तर शाखायें प्रस्फुटित होती हैं एक तो पौराणिक धर्म में प्रतिपादित पूर्व-व्यवस्था—देवालय, कूप, तडाग, वापी आदि के निर्माण की परोपकारार्थ (धर्मार्थ) परम्परा तथा दूसरी इसका जन-समाज विशेषकर राजाओं एवं समृद्ध एवं सम्पन्न व्यक्तियों पर प्रभाव तथा उनके आश्रय से इस संस्था का दैनन्दिन विपुल प्रसार तथा उसके द्वारा प्रासाद-निर्माण का लोकोत्तर उत्थान । इन दोनों दृष्टियों की समीक्षा में आगे के तीन अध्यायों 'पौराणिकी', 'राजाश्रया' एवं 'लोक-धर्मिणी' की सृष्टि की गयी है ।

वैदिकी

‘प्रासाद’ या ‘विमान’ देव-गृह ही नहीं पूजा-गृह भी हैं। इस देश में उन उपासना-गृहों या स्थलों को, जिनको हम मन्दिरों या प्रासादों या विमानों के नाम से पुकारते हैं, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप में पूजागृहों की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एवं आच्छादन—इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओं के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था में भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही—इसमें किसी का वैमत्य नहीं।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास में देश-विशेष में उसके भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों में अन्यतर के विशेष विकास का संकीर्तन किया जाता है परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एवं संस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष भुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसमें अनिवार्य संसर्ग रहा। अतः इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश में प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहों के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य संस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपों में प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था; पुनः आगे चलकर आहुति-प्रधान। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद इन्हीं दो परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद में अनेक देवों के प्रति जो स्तुतियाँ-ऋचायें हैं उनमें ‘वास्तोष्पति’ की जो प्रकल्पना है वह प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-निवेश-परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य में वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एवं साधना है (भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-प्रासाद के नाना निवेशों—वास्तु-निवेश (Site-plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती-रचना), गर्भ-गृह-विन्यास (अर्थात् विमानोत्थान), मंडप-निवेश, शाला-विन्यास आदि की विकसित परम्पराओं में वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा में घटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय में हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रखेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्याय में अन्य प्रश्नों पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय कर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति ‘पुरोहित’ एवं कारक—गृहपति ‘यजमान’ के रूप में प्रकल्पित है। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-कारण्ड में पुरोहितों में एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का अधिष्ठाता-अध्यक्ष कहलाता है, उसी प्रकार वास्तु-कर्म में स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही, तक्षक एवं वर्धक) भी स्थापक-आचार्य

की अध्यक्षाता में कार्य करते हैं। प्रासाद-निर्माण में एक वार नहीं अनेक वार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय-कर्मों के द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तंत्र शाखा से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है; अतः इस दृष्टि से वास्तु-शास्त्र वेदाङ्ग-पट्क में दो अङ्गों की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। ये दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य में ज्योतिष एवं कल्प दोनों का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ५६)।

वास्तु-पुरुष-मण्डल हिन्दू प्रासाद का नक्शा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है जिसमें परम-तत्त्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाँधा (यन्त्र शब्द में 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मंडल में तदायत्ता भूमि सीमिति होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल में बाँधने का प्रयास है उसकी संज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मण्डल के चार उपकरणों—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु पुरुष एवं मण्डल-संज्ञाओं में से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-कल्पना में वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ-भूमि तो नियत ही है; मण्डलाधार 'धरा' की दृढ़ता (stability) के सम्बन्ध में नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण है—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४; शं० ब्रा० षष्ठ १-१-१५; वाजसनेय-संहिता एकादश ६६—इसी प्रकार तै० सं० एवं गृह्य-सूत्रों में भी निर्देश है। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भू-समीकरण-वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके हैं तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, पृ० ५८-६१; तदनु रूप यह पृथु, जो वास्तव में धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष (prototype) है, वह शं० ब्रा० (चतुर्विंश ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन से परिपुष्ट होता है।

वास्तु-चक्र-निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा में भू-कर्षण, अंकुरारोपण एवं समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थायें हैं क्योंकि किसी भी यज्ञ-सम्पादन में आवश्यक यज्ञ-स्थल-चयन एवं उस पर वेदि-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण में आवश्यक वैदिक कर्मकाण्ड प्राथमिक संस्कार ही नहीं वे उसके पूरक एवं अभिन्न अङ्ग हैं। ऋग्वेदसंहिता (त्रिंशति ३-४), मैत्रायणी-संहिता (तृतीय २-४५), शं० ब्रा० (सप्तम २. २. १-१४) आदि में निर्दिष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू-कर्षण एवं अंकुरारोपण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद-निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि-भूमि का द्वादश वृषभों के द्वारा कर्षण एवं अंकुरारोपण का उल्लेख है। अग्नि-चयन में महावेदी के निर्माण एवं यज्ञीय-भूमि पर अंकुरारोपण से लगाकर 'मङ्गलांकुर' की प्रक्रिया पूजा-वास्तु का सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१. १८.)। अथर्ववेद (पंचम २५. २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ-गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक-वेदि का अंकुरारपण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर, जो इस गर्भ से ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को आत्म-सात् ही नहीं करता है वरन् उसे दूसरे ही तत्व में परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत होकर 'भूमि' कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति से उत्पन्न होता है परन्तु उसका रूप भूमि पर निवेश्य पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण, भू-समीकरण एवं अंकुरारपण के साथ साथ 'भूत-वलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत-गणों (spirits) की वहाँ से उनकी विदाई ही अभीष्ट नहीं है वरन् च्युत पद पर प्रथम वलि भी है जिससे निराकर परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २. ३. ६-७) इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १-८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है :

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेतं भुवः स्थलम् ।
 संगृह्य स्थपतिः प्राज्ञो दत्त्वा देववलिं पुनः ॥
 स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः ।
 अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसा ॥
 वासान्तरं ब्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम् ।
 इति मन्त्रं समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ॥
 कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्ववीजानि वापयेत् ।
 दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
 सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत् ।
 यतो गोभिः परिक्रान्तमुपघ्रायौश्च पूजितम् ॥
 संहृष्टवृषनादैश्च निधोर्तं क्लुषीकृतम् ।
 वत्स वक्त्र-च्युतैः फेनैः संस्कृतं प्रस्नवैरपि ॥
 स्रज्जलं गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषैः सलेपनम् ।
 च्युतरोमन्थनोद्धारैर्गोस्पदैः कृतकौतुकम् ॥
 गोगन्धेन समाविष्टं पुण्यतोयेः शुभं पुनः ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है :—

संमार्जनोपाङ्गनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
 गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥

मनु० ५—१२४

भू-कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अत्रलोक्य है—अ० ५.

अस्तु, भू-कर्षणादि प्रक्रियाओं से समीकृत भूमि अब वास्तु-पुरुष-मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथिवी' चौड़ी अर्थात् असमीकृता—ऊबड़ खाबड़ अथ भूमि दर्पण-समीकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्म-राज्य की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन वृत्तान्त)

प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणों के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिससे भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एवं सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २. ५. ७) वेदि की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बताता है। देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहाँ (यज्ञ-वेदी के चारों कोणों पर) पर लाकर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एवं देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोत्साह है—यह शनैः-शनैः हमारी समझ में आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु-पुरुष-मण्डल के औपौद्वात्तिक प्राचीन मर्मोद्घाटन में एक तथ्य और यहाँ निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता संकेतित है। सुश्री कुमारी डा० क्रामरिश (see H. T. p. 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बड़ा ही तथ्योद्घाटक है:—

'The surface of the earth, in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points. It is therefore represented by the ideogram or mandala of a Square [F.N. 44—The square does not refer to the outline of the earth. It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West; and South and North. The earth is therefore called 'Caturbhrsti' four-cornered (Rv. X. 58. 3) and is symbolically shown as Prithivi-mandala, whereas considered in itself, the shape of the earth is circular, (Rv. X. 89. 4; S. B. VII. I. I. 37)]. The identification of the square with the Veda is in shape only and not in size and belongs to the symbolism of the Hindu Temple. The Veda represents and is levelled earth, a place of sacrifice or worship: 'No part of the ground should rise above it; for it was from there that the gods ascended to heaven' (S. B. III. 1. 1. 1-2). The site, the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (S. B. VIII. 5. 2. 16). The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the intermediate region (antriksa). From it also it leads downward and rests on earth. In it the temple has its elevation. The Vastu-purusadmandala, the temple-diagram and metaphysical plan is laid out on the firm and level ground; it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth'

ऊपर ऋग्वेद की 'चतुर्भृष्टि' में पृथिवी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्रों में प्रतिपादित नाना आकृतियों के वास्तु-मण्डलों में वैदिक-उत्पत्ति-प्रसूति कहां तक संगत होती है? वास्तु-पदों के अनेक आकारों में चतुर्भुजाकार एवं गोलाकार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनों

आकार भारतवर्ष की वास्तु-कला में वैदिकवेदिका एवं अग्नि से आये हैं। वेदिका एवं अग्नि दोनों ही एक ही संज्ञा में हैं। वास्तु-मण्डल के चतुरश्राकार एवं वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में आगे दूसरे स्तम्भ में विशेष विचार करेंगे। यहाँ पर प्रथम वास्तु-पुरुष के वैदिक जन्म पर थोड़ा सा और विवेचन वांछित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही आवान्तर रूप है। रुद्र-प्रजापति ने उषा के साथ शादी की और उससे चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पड़ा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋ० दशम० ६१.७) ने इसकी 'यज्ञ-वास्तु-स्वामी' यह संज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एवं यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चलकर सभी भवनों के पदों का स्वामी बना।

वास्तु-पुरुष में असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) में 'गृह-रक्षक' के रूप में प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६); परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋ० सप्तम ५५.१; पा गृ० सू० तृतीय ४.७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहाँ पर उसका आधिपत्य अग्नि के आधिपत्य से एकान्वित हो जाता है क्योंकि रुद्र एवं अग्नि तत्त्वतः एक ही हैं—(दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५.) ऋग्वेद। (दे० प्रथम ६०. ४; पंचम ६. १-२; ७.६; ८-१ तथा पष्ठ १६. २४; ४८. ८-३) में वह 'गृहपति' 'वासक' आदि संज्ञाओं से संकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५.२८) उसे देवों में 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओं के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० पष्ठ १०.२.६) इन वसुओं को मानवों को वसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओं के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (पष्ठ ४६.६) में प्रजापति, सोम, अग्नि, धाता गृह-पति के रूप में सम्बोधित है; ये सभी वसुदेव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एवं प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि-प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्तुधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुश्री क्रमारिश ने (दे० H. T. p. 46) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है:

“.....'Vāstu now is its name. Its image is that of the Puruṣa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm. On its appeased being and form spread out the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation. Its superstructure points to the origin of the primeval descent; it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple. This body once more, in concrete form (mūrti) made by art, is that of the Puruṣa, arisen.'”

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग (“तेष्वङ्गं प्रथमं प्रोक्तं वास्तु-पुंसो विकल्पना” स० सू० ४८-३) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी की पूरी इन्जीनियरिंग (i.e. Temple-plan) वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म तथा स्थूल। मण्डल (चतुरश्राकार पद) उसका स्थूल रूप है जो वास्तव में वास्तु-पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगों पर अधिष्ठातृ-देवगण (सूक्ष्म रूप) तथा उनसे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म का परम तत्त्व (‘परा’ रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गों—वास्तु (परा), पुरुष (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अतः मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठभूमि पर प्रविशेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात् कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष में प्राचीनतम वैदिक देव ‘वास्तोष्पति’ का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहाँ तक उसके नाना अङ्गों के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविशेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १५१-७ में कर आये हैं। रहा ‘परा’ रूप अर्थात् वास्तु उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके हैं (वहाँ)। यहाँ पर वास्तु-पुरुष-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक्र की मीमांसा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमांसा में ‘परा-रूप’ ‘वास्तु’ पर भी थोड़ा सा उपोद्घात आवश्यक है। ‘वास्तु’ वास्तु का विकास है एवं निविष्ट पद (Planned site) की संज्ञा है। इसका मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु संनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका ‘पुरुष’ के सादृश्य में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराट् पुरुष—पुरुष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनों एक हैं एवं तदात्मक भी हैं।

‘मण्डल’ से किसी भी आयत (Polygon) का संकेत हो सकता है। वास्तु-पुरुष मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि में परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य में वास्तु-पुरुष-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (Site plan), स्थान-निवेश (ground plan) एवं अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सन्बन्ध है, जैसा गीत एवं रागों का। वास्तु-शास्त्र में प्रतिपादित तलच्छन्द अथवा अधश्छन्द एवं ऊर्ध्वच्छन्द का यही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओं की वास्तु-कला के सभी वर्गों के भवनों के विन्यास में वा० पु० म० एक प्रथम एवं अभिन्न अंग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्वच्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमें अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक जन्म (Vedic origin) कहाँ तक संगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार ‘चतुरश्र’ है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थों (दे० वौधा० शू० सू० प्रथम २२, २८) में ‘चतुरश्रीकरण’ पर प्रवचन है। ‘चतुरश्रीकरण’ में ‘वर्तुल’ निहित

है और उसी 'वर्तुल' से ही 'चतुरश्रीकरण' प्रतिफलित होता है। चतुरश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनों ही आकार वैदिक चित्ति—अग्नि (Fire Altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं। प्राचीन-वंश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य में पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वंश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणामुखी-रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमें प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओं में से पूर्व-कोणस्था वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिमकोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनों के आधिराज्य क्रमशः द्यौः, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष हैं (श० ब्रा० द्वादश ४.१.३)। यज्ञशाला (विशेषकर-सोमादि यज्ञों में) में अन्य अनेक वेदियाँ धिनिर्मित होती हैं जिनकी प्रायः सभी की आकृतियाँ 'चतुरश्रा' होती हैं - उत्तर-वेदी (जो सर्वप्रधान वेदी है) एवं आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही उ० वे० की 'नाभि' एवं 'उखा' की भी वही आकृति होती है।

अथच इन सभी नैतिक यज्ञों की वेदियों (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणा) एवं नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियों (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एवं प्रयोजन सभी प्रासाद-निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते हैं। वैदिक परम्परा में वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है; यथीय कर्मकाण्ड की तो वह क्षेत्रमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न कि निश्चित आकृति। श० ब्रा० (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि - वेदी पृथ्वी है और अन्तर्वेदी द्यौः—कितना संगत है।

हिन्दू-प्रासाद की पृष्ठ-भूमि में यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रूप तिरोहित होकर द्यौः की पूर्यता में परिणत हो जाता है। अतएव, उसी पूर्यता के प्रतीकत्व में उसे चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एवं वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अथच यागोपलक्षणिक एवं प्रासाद-वास्तुक चतुरश्राकार पुनः नाना आकारों में परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय परम्परा ही नहीं जिसमें एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदों की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अर्धितु सूत्र-साहित्य (दे० बौधायन शूल्ब-सूत्र आदि) में भी यह परम्परा पल्लवित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध में अवशेष कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास'—नामक आगे के अध्याय में किया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि-रचना के प्रतिपादक शूल्बसूत्रों, (जो कल्प-सूत्रों के ही अवान्तर पुञ्ज हैं) में वर्णित नाना 'अग्निगो', (ऐष्टिक यज्ञ वेदिकाओं) पर कुछ विशेष संकेत यहां आवश्यक है। डा० आचार्य (दे० H. A. I. A. p. 63) ठीक ही लिखते हैं :—“The construction of these altars, which were required for the great soma-sacrifice, seems to have been based on scientific principles and was probably the precursor of the temple which later became the chief feature of Hindu Architecture.”

इन अग्नि-वेदियों का नाना आकृतियों में निर्माण होता था। तैत्तरीय-संहिता (दे० पंचम ४-११) में इनका पुगतनतम निर्देश है। बौद्धायन तथा आपस्तम्ब के सूत्रों में इन वेदियों की आकृतियों एवं उनके निर्माण में प्रयुक्त इष्टकाओं (Bricks) के पूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न संज्ञायें उल्लेख्य हैं:—

संज्ञायें	आकृतियाँ
१. चतुरश्र श्येनचित्	चौकार
२. करक चित्	„ कुछ फेर सहित
३. अलज-चित्	„ „
४. प्रौगचित्	(Equilateral triangle)
५. उभयतः प्रौगचित्	„
६. रथ-चक्र-चित्	

टि०:—इसके दो भेद संकीर्तित हैं—एक ठोस, विना आरों (Spokes) के—रथ-चक्राकृति वाली तथा दूसरी षोडश आरों सहित रथचक्राकृति।

७. द्रोणचित्	घटाकार (चतुरश्र अथवा वर्तुल)
८. परिचय्य-चित्	

टि०:—रैखिक-योजना में यह वर्तुलाकार होती है और इष्टकान्यास में कुछ परिवर्तनों से यह 'रथचक्र-चित्' के समान ही निर्माय है।

९. समूह्य-चित्	(वर्तुल)
१०. कूर्म-चित्	यथानाम कच्छपाकार जो त्रिकोण अथवा वर्तुल दोनों में निर्माय है।

इन वेदियों के निर्माण में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनका निर्माण चय कला (Masonry) की प्राचीन पद्धति का परिचायक है। इनमें प्रत्येक वेदि की रचना कम से कम ईंटों की पाँच उठान या रद्दों (layers) में सम्पन्न की जाती थी (किन्हीं किन्हीं में ये (layers) १० और १५ तक प्रतिपादित हैं)। जितने अधिक (layers) उटते थे उतनी ही अधिक ऊँचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा में २०० ईंटों के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी में १००० ईंटें लगें। पहले तीसरे और पांचवें रद्दों के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे। परन्तु दूसरे और चौथे रद्दों में दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एवं समानाकार की एक इष्टिका दूसरी इष्टिका पर न पड़ने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं; तदनुसार इन वेदियों में इष्टिकान्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रों (Squares) में ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन में निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit—June 1876 no 1, Vols I & IV etc.

'The first altar covered an area of $7\frac{1}{2}$ puruṣas, which means $7\frac{1}{2}$ squares, each side of which was equal to a puruṣa, i. e. the height

of a man with uplifted arms. On each subsequent occasion the area was increased by one square puruṣa. Thus at the second layer of the altar one square puruṣa was to the $7\frac{1}{2}$ constituting the first chiti altar, and at the third layer two square puruṣas were added and so on. But the shape of the whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged. The area of every chiti (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, tortoise, etc—had to be equal to $7\frac{1}{2}$ square puruṣas.

Thus squares had to be found which would be equal to two or more given squares, or equal to the difference of two given squares; oblongs were turned into squares and squares into oblongs. Triangles were constructed equal to given squares or oblongs and so on. A circle had to be constructed, the area of which might equal as closely as possible that of a given square.

अस्तु परिशिष्ट (अ) में एक प्रतिनिधि चित (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) द्रष्टव्य है ।

वेदि-विन्यास में जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओं के चयन का संकेत है उनकी पृथक् पृथक् संज्ञायें होती थीं । इष्टिका-कर्म (masonry) उस सुदूर अतीत में कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं ।

अस्तु, अन्त में अब 'श्येन-चिति' में प्रयुक्त निम्न इष्टिकाओं की सूची यहाँ अप्रासङ्गिक न होगी:—

१. इन्द्रम्बी	१७. प्रमाच्छन्दः	३३. गायत्रीच्छम्
२. पृथी	१८. प्रतिमा	३४. त्रिष्टुपच्छम्
३. भूरपी	१९. अरत्रीवि	३५. जगतीच्छम्
४. सूरसी	२०. विराटच्छन्दस्त	३६. अनुष्टप्
५. जास्तेय	२१. गायत्रीच्छन्दस्तजा	३७. उष्णीहा
६. विराट्	२२. त्रिष्टुप्-च्छन्दस्त-च्छिद	३८. पंक्ति
७. सम्राज्यो	२३. जगती-च्छन्दनिस्त	३९. बृहती
८. बृहष्प	२४. अनुष्टप्	४०. माच्छन्द
९. अग्नेर्या	२५. उष्णीहा	४१. प्रमाच्छन्द
१०. देवारां	२६. पंक्तिश्चम्	४२. प्रतिमा
११. मधुश्यामाध	२७. बृहती	४३. अरत्री
१२. मधुश्च	२८. माच्छम्	४४. विराटच्छम्
१३. आषाढा	२९. प्रमाच्छम्	४५. गायत्रीच्छम्
१४. उदम्यश्रुष्मा	३०. प्रतिमा	४६. त्रिष्टुपच्छम्
१५. यास्तेजः	३१. अरत्रीवि	४७. जगतीच्छम्
१६. मच्छन्दे	३२. विराटच्छम्	४८. अनुष्टुप्

४२. उष्णी	८५. सनिरसि	१२१. यातुहनम्
५०. पंक्तिच्छम्	८६. रितिरसि	१२२. पिशाचह
५१. वृहती	८७. शक्ति	१२३. रक्षोहनम्
५२. अपांत्वे	८८. भूतिरसि	१२४. शत्रुहनम्
५३. अपांत्वोन्न	८९. कर्मांसि	१२५. उद्वदसि
५४. अपांत्वात्	९०. गुदोषि	१२६. ऊदितिरसि
५५. अपांत्वा	९१. क्षत्रम्या	१२७. उदत्यसि
५६. अपांत्वाय	९२. क्षत्रम्पिन्व	१२८. आत्रुममा
५७. अर्णवे	९३. क्षत्रंजिखव	१२९. आत्रामम्य
५८. समुद्रे	९४. क्षत्रंयच्छ	१३०. आकान्तिर
५९. सलिले	९५. क्षत्रंहङ्ग	१३१. संक्रममाना
६०. अपंक्ष	९६. क्षत्रमसि	१३२. संक्रामम
६१. अपांश	९७. विश्वेषुत्वा	१३३. संक्रान्ति
६२. अपांत्वा	९८. विश्वेषुत्वा	१३४. सम्यांसि
६३. अपांत्वा	९९. विश्वेषुत्वादि	१३५. स्वरसि
६४. अपांत्वायु	१००. विश्वेषुत्वा	१३६. इषिसी
६५. अपांत्वायो	१०१. विश्वासुत्वा	१३७. उर्जिसी
६६. गायत्री	१०२. विश्वासुत्वा	१३८. भगोसीद
६७. अपांत्वा	१०३. विश्वेषुत्वा	१३९. द्रविणोसीद
६८. त्रिष्टुप्	१०४. विश्वासुत्वा	१४०. सभृतेसीद
६९. जगती	१०५. विश्वासुत्वा	१४१. पृथिव्याय
७०. अनुष्टुप्	१०६. दिविसि	१४२. विष्णोपृष्वे
७१. पक्तिश्च्छम्	१०७. स्वर्जिन्दसि	१४३. इडायापः
७२. आरवेम्वा	१०८. पूतनाजिद्	१४४. धृतवतिसी
७३. आयोष्क	१०९. भूरिजिद्	१४५. पिण्वमवे
७४. आयोष्पत्व	११०. अभिजिद्	१४६. सभृत्सरे
७५. विष्	१११. विश्वजिद्	१४७. परिवत्सरे
७६. वृहस्पत्य	११२. सर्वजिद्	१४८. इदावत्स
७७. अधमसम्	११३. सत्राजिद्	१४९. इतुवत्सरे
७८. ऋतसदसि	११४. धनजिद्	१५०. इद्वत्सरे
७९. सल्य-सदसि	११५. भामसि	१५१. वत्सरेसी
८०. तेजःसदसि	११६. विश्वपामसि	१५२. एकस्याम्
८१. वयः-सदसि	११७. प्रस्तरामसि	१५३. दशासु
८२. यशः-सदसि	११८. सेपन्नहः	१५४. शतेम्सी
८३. गृणो	११९. अभिमति	१५५. सहस्रे
८४. धामांसि	१२०. अरति	१५६. अयुते

१५७. नियुते	१७२. आयुसः-प्राणङ्गसम्	१८७. ऋग्वशा
१५८. प्रयुतेसी	१७३. प्राणङ्ग्दपानाङ्गसम्	१८८. विद्वशा
१५९. अर्धुदे	१७४. अपानातुयानाङ्गसम्	१८९. त्रिवृते
१६०. न्यर्धुदे	१७५. व्याना-चक्षुः	१९०. पंवदगौते
१६१. समुद्रे	१७६. चक्षुसहस्रो	१९१. मसद
१६२. मध्ये	१७७. श्रोतात्मनः	१९२. एकविंगगौते
१६३. पञ्चे	१७८. मनसो	१९३. त्रिणवन्तेजः
१६४. अन्तेसी	१७९. बाचा	१९४. मनसो
१६५. परार्धसी	१८०. आत्मनः	१९५. त्वामस्थे
१६६. पिणवमानासि	१८१. पृथिव्या	१९६. लोकम्
१६७. ऋतमस्युत	१८२. अन्तर्विज्ञाद्दि	१९७. लोकम्पिष्टणा
१६८. सत्यमसि	१८३. दिवःसुधाः	१९८. लोकम्पिष्टणा
१६९. सनिरसि	१८४. पृथिवी	१९९. लोकम्पिष्टणा
१७०. सङ्ग-श्रितसि	१८५. आन्तरिक्षम्	२००. लोकम्पिष्टणा
१७१. सम्पद	१८६. द्यौर्वशा	



पौराणिकी

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से संकीर्तन किया जाता है उसमें 'श्रुति' (वेद एवं वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्मशास्त्र) का क्रम आता है पुनः पुराणों का । परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओं में विशेष अन्तर नहीं है । सत्य तो यह है कि पुराणों ने श्रौताचार (जो एक प्रकार से विशिष्ट या शिष्ट जनों का आचार था) की ही भित्ति पर श्रौत-स्मार्त संस्थाओं का नवीन रूप (पौराणिक रूप) प्रदान किया ।

पुराणों की महती देन 'सामान्याचार' है जिसमें आर्य एवं अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एवं शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रूप में भाग ले सकते थे । इस सामान्याचार में 'देव-भक्ति' एवं तदनु रूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी । त्रिमूर्ति -- ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की कल्पना एवं तदाधार वैष्णव एवं शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एवं तदनुपङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एवं तत्सम्बन्धी अवतारवाद, उनकी नाना लीलायें आदि की बड़ी बड़ी अनेक शृङ्खलायें निर्मित हुईं ।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणों की रचना कितनी पुरानी है, पुराणों का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एवं वेद में कितनी घनिष्टता है, पुराणों की संख्या एवं पुराणों से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय हैं—इत्यादि प्रश्नों की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नहीं है । यहाँ प्रकृत प्रासाद-वास्तु के विकास में वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन का समीक्षा का अवसर है । अतः इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम उस आधारभौतिक दृष्टि-कोणोंसे विवेचन करेंगे जिससे पुराणों में प्रतिपादित पूर्व-धर्म के प्रचार में देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई ।

'इष्टापूर्त' की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं । यहाँ पर थोड़ा विस्तार से कथन आवश्यक है ।

'इष्टापूर्त' वैसे तो एक शब्द है परन्तु इसमें दो भाग हैं । इष्ट + पूर्त—प्रथम का अर्थ है यज्ञ-सम्पादन (इष्ट = यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled):—'Spiritual result or merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts' Kane, H. D. Vol. 2. pt. 2. p. 843.

'इष्टापूर्त' की संस्था अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखती है । ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का संकीर्तन हुआ है:—

- (i) सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यथेन इष्टापूर्तेन व्योमन ।
ऋ० १०. १५. ८
- (ii) इष्टापूर्ते... ..नः पितृणाममुं ददे हरसा देव्येन ।
अथर्व० २. १२. ४
- (iii) यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै ।
...यदिष्टं यत्परादानं यद्दत्तं या च दक्षिणा ।
तदग्निर्वैश्वकर्माणः सुवर्देवेषु नो दधत् ।
तै० सं० १. ७. ७. १-३
- (iv) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च ।
वाज० सं० १५. ५४ तथा १८. ६१
- (v) इष्टं पूर्तं शश्वतीनां समानां शश्वतेन हविषेष्टानन्तं लोकं
परमासुरोह । तै० ब्रा० २. १. ५
- (vi) इत्यददा इत्यजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत ।
इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य । इष्टापूर्तेमैवैमं स समर्धयति ॥
तै० ब्रा० ३. ६. १४

इसी प्रकार कठ एवं मुरडक आदि उपनिषदों में भी 'इष्टापूर्त' का निर्देश है:—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनुताञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च सर्वान् ।
एतद्बृहक्ते पुरुषस्याल्पमेभसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

कठोप० १. १. ८

इष्टापूर्तं मन्यमानावरिष्टं नान्यच्छूयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

मुरड० १. २. १०

महाभारत की इष्टापूर्त पर निम्नलिखित भारती सुनिये:—

एकाग्रिकर्म हवमं त्रेतायां यच्च ह्यय्ये ।

अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते ॥

अज्ञप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

स्मृतियों में इष्ट एवं पूर्त (इष्टापूर्त) दोनों की सामान्य संस्था पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होते हैं:—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।

श्रद्धाकृते ह्यक्षयेते भवतः स्वागतैधमैः ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यैष्टिकपौर्तिकम् ।

परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तिः ॥

मनु० ४. २२६-२७

अस्तु, ऊपर एक संकेत किया जा चुका है कि पौराणिक धर्म की सर्वतोन्मुखी विशेषता जन-धर्म (Popular religion) है। इसमें शूद्र भी भाग ले सकते थे। अत्रि का उद्घोष है:

दृष्टापूर्तों द्विजतीनां धर्मः सामान्य इष्यते ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके ॥

इस अवतरण से जहाँ पर पूर्व-धर्म की सामान्य संस्था पर प्रकाश पड़ता है वहाँ इष्ट-धर्म वैदिक है एवं पूर्व-धर्म पौराणिक—यह भी परिपुष्ट होता है । अतः निष्कष यह निकला कि पौराणिक पूर्व-धर्म में 'देवतायनों' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था ।

पूर्व-धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नहीं समझनी चाहिये । जिस प्रकार पुराणों की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समझना आमक है । पुराण (पुराना इतिहास) भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैम हो सकता है ? उसी प्रकार हमें पूर्व-धर्म को नवीन संस्था नहीं समझनी चाहिये । वैदिक-वाङ्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्व-धर्म कहाँ तक जाता है ? कल्प-सूत्रों के मर्मज्ञ विद्वानों से अविदित नहीं कि उनमें श्रौत-सूत्रों के अतिरिक्त धर्म-सूत्रों एवं गृह्य-सूत्रों का भी समावेश है । धर्म-सूत्रों एवं गृह्य-सूत्रों में दानादि महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एवं मूर्ति-प्रतिष्ठा—Foundation of Temples) एवं उत्सर्ग (वापीकूपतडागारामादि का परोपकारार्थ निर्माण—dedication of wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन है ।

जैमिनि-सूत्रों (१. ३. २) की व्याख्या करते हुये शबरस्वामि का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी संस्था के रूप में परिकल्पित करता है जहाँ पर प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है । शबर ने ऋग्वेद की 'धन्वन्निव प्रपा'—१०. ४. १. तथा 'भोजस्येदं पुष्करिणीव'—१०. १०७. १० आदि का उल्लेख किया है । विष्णु-धर्म-सूत्र (अ० ६१. १-२) ने कूप एवं तडाग निर्माण की जो प्रशंसा की है वह उसमें पाप-प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य हैं ।

शा० गृ० सू० (५.२) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन है । आश्व० गृ० सू० (४. ६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट में भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं । पा० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है :—

'अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामस्तत्रोद्गयन आपूर्यमाणपत्रे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणां यवमयं चरुं श्रपयित्वा-ज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने इमं मे वरुण तस्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमसुरं हि राजा वरुणस्योत्तममग्नेरनीकमिति दशचं हुत्वा स्थाङ्गी-पाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्तं स्विष्ट-कृत्प्र शनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वालंकृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन्नाचार्याय वरं दत्त्वा कर्णवेष्टकौ वास्रांसि धेनुर्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम् । पार० गृ० परिशिष्ट ।'

अस्तु, सूत्र-ग्रन्थों के इसी प्राचीन स्रोत में प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी वह निकली जो पुराणों के सागर में मिली । पुराणों में इस पद्धति पर बृहद् विजृम्भण हुआ । अग्नि-पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य हैं । तन्त्रों एवं आगमों की भी यही गाथा है । पंचरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम ग्रन्थ सभी

में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कालान्तर पाकर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपरार्क; हेमाद्रि; दानक्रिया-कौमुदी; रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्ग-तत्व; नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा-मयूख तथा उत्सर्ग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है; परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिये—प्रतिष्ठापन सविधोत्सर्जनमित्यर्थः—दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—संकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा एवं भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतों के लिये होता है अतः उत्सृष्टा (दाता) भी तो उन भूतों में एक है अतः वह भी समानरूप से उसके भोग का अधिकारी है। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्सृष्टा (दाता) इनके भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि वाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसंगत है जहाँ पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्बमान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन)—‘स्मृतिशास्त्रेणैव सभावसथकूपप्रभाराम-सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन’।

कालिका-पुराण में तो पूर्व-धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग) को इष्ट-धर्म से भी ऊँचा माना गया है:

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तो शिष्टसंमतौ
प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्वमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्
मुक्ति-भुक्ति-प्रदं पूर्वमिष्टं भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्व दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। ‘पूर्व’ से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमें इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु ‘पूर्व’ तो भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन है। अतः इक्षी महा-भावना से पूर्व-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक बृहद्निवेश है जिसमें प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरां सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापीकूपतडागादि।

सूत्र-कारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। भरतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। याग दि में वृक्षों के बहुल प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहा) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की वन्दनवार प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एवं वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्म-कारण सम्पन्न हुआ है ? (दे० हेमाद्रि—

व्रतखण्ड—अश्वत्थोदम्बरप्लक्ष्मचूतन्यग्रोधपल्लवाः पंचाङ्गाः इति प्रोक्ताः सर्वकर्मसु शोभनाः—
जिस स्थान पर कूपान्नि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सर्ग होता वहाँ
वृक्षारोपण (विशेषकर बड़े-बड़े वनस्पतियों—न्यग्रोध—पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता
था । इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान (public-place) बिना वृक्षों की छाया
कैसे रह सकता था ? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा । महा-
भाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी 'आम्नाश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' का
विश्वास प्रतिष्ठित था । महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर
तडाग के तट परः—

वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः

(अनु० प० १८. ३०-३१)

विष्णु-धर्म-सूत्र (६१. ४) का भी मही समर्थन है:

'वृक्षारोपितवृक्षाः परलोकं पुत्रा भवन्ति ।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुण्यों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा
(दे० पद्म-पुराण), जहाँ वृक्षारोपण, देवालय-निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यागादि कर्म-
काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है ।

अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहाँ पर संकेत करने का अभिप्राय
पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहाँ पर देवतायन—मन्दिर-
निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे । मत्स्यपुराण (दे० अ० २७०. २८-२९)
में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलाकर
तथा उत्तर में पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सालादि-तालादि वृक्ष भी आरोपित हों । प्राचीन
धर्म शास्त्रों में वृक्षों की रक्षा पर बड़े कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु-धर्म-सूत्र
५. ५५. ५६) । अतः स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में वृक्षारोपण एवं वृक्षों की
रक्षा अनिवार्य अंग हैं ।

इस अत्यन्त सँक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के
प्रधान अङ्गों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तडाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा एवं उनके
उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों में सामग्री है । जहाँ तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर में प्रतिमा-
प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिकी व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं । वह तो
स्मार्त एवं पौराणिक संस्था है; परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण
का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक हैः—

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते,
कूपवापीसु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च ।
एष एव विधिर्दृष्टः प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेषः स्यात् प्रासादोद्यानभूमिषु ॥

म. पु. १८. १०-१२

अर्थात् जो विधि तडागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझनी चाहिये—विशेष यह कि मंत्रों के प्रयोग में थोड़ी सी हेर फेर अवश्य रहे ।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा (Foundation of temples) तथा देवता-प्रतिष्ठा (Consecration of an image in the temple) पर विस्तृत विवरण प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं । देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रूप से लिखेंगे । मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है । सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं । आदि शंकराचार्य के जगत्प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—वदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी । इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनों से हम परिचित ही हैं । द्वारकापुरी, रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है । अस्तु, यहाँ पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा सा और संकेत आवश्यक है ।

वाराही 'बृहत्संहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव में उसे अर्ध-पुराण समझना चाहिये । बृहत्संहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूतं सञ्चिन्नमारामान्विनवेश्य च ।

देवालयं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ॥

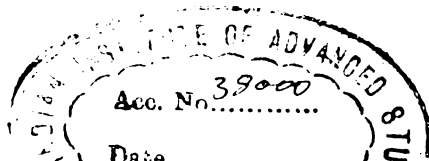
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता ।

देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते ॥

अ० १६. १-२

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहाँ पर पुष्पवृक्षों एवं फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एवं सुनिविष्ट हैं वहाँ पर यश एवं धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवतायन का निर्माण कराना चाहिये । इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोकों की प्राप्ति का अभिलाषी यजमान देवालय-निर्माण करावे । क्योंकि देवालय-निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य स्वर्ग-प्राप्ति) एवं पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनों ही एकत्र प्राप्त होते हैं ।

इस प्रवचन से प्रासादों के उदय के अन्तर्तम में पौराणिक पूर्त-धर्म के मर्म को पाठक भलीभाँति हृदयङ्गम कर सके होंगे । 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिरं कारयेत्', सर्वथा सिद्ध हो गया । प्रासाद-कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है । 'स्थपति एवं स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध में प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है । अतः वह सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान को) मिल जाते हैं । 'बृहत्संहिता के' के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रासाद-कारक यजमान का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और यह नित्य स्वर्ग, मन्दिर की दृढ़ता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एवं चिरस्थायी है वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी । 'महानिर्वाण तन्त्र' प्रयोदश २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन में निर्देश करता है कि काष्ठादि से



विनिर्मित छ द्य-प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्टिकाओं से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टिका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं ।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य तो यह है कि हिन्दू-दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ कार्य के समान पुनीत एवं स्वर्गकारक है । प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है—दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख । अग्निपुराण (दे० अ० ३८, १०-११ तथा २५-२६) का भी यही पोषण है ।

‘शैवागम-निवन्धन’ भी इसी तथ्य का समर्थन करता है:—

ये वै शिवालयं भक्त्या शुभं कारयतीप्सितम् ।
त्रिसप्तपुरुषाल्लोकं शम्भोर्मयति स ध्रुवम् ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम् ।
सर्वैरवश्यं कर्तव्यं आत्माभ्युदयकाङ्क्षिभिः ॥

‘यमसंहिता’ का भी ऐसा ही साहित्य है:—

कृत्वा देवालयं सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम् ।
विधाय विधिवच्चिगं तल्लोकं विन्दते ध्रुवम् ॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३, २४०-४४) में ‘प्रासाद-स्तवन’ बड़ा ही मार्मिक है ।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन-समाज में इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रासाद-वास्तु के विवेचनावसर ये ग्रन्थ पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्म-पुण्य पर प्रयत्न एवं प्रचुर संकेत करते हैं । इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बड़ा ही प्रशस्त है जो ‘प्रासाद’ वार (temple-wise) किया गया है । अतः समराङ्गणीय ‘प्रासाद-स्तवन’ का यहीं पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा । वास्तव में ‘ईष्टापूर्त’ की परम्परा में प्रतिष्ठापित प्रासादों का यह माहात्म्य अन्यत्र तुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पड़ेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्धोष सुनने लायक है:

प्रासादराजः मेरुः एवमेष चतुःशृङ्गचतुर्द्वारोपशोभितः ।
अ० ११, १४-१५ मेरुर्मेरुपमः कार्यो वाञ्छता शुभमात्मनः ॥
सर्वस्वर्णमयं मेरुं यद् दत्त्वा पुण्यमाप्नुयात् ।
तमिष्टकाशैलमयं कृत्वा तदधिकं भजेत् ॥

सर्वतोभद्रः जयं लक्ष्मीं यशः कीर्तिं सर्वाणीष्टफलानि च ।
१५, ३०६; १६, १४० करोति सर्वतोभद्रं सर्वतोभद्रकः कृतः ॥
विधाय सर्वतोभद्रं देवानामालयं शुभम् ।
लभते परमं लोकं दिवि स्वच्छन्द-भाषितम् ॥

रुचकादिचतुष्पष्टि-प्रासादाः पुराणां भूषणार्थाय भुक्तिमुक्तिप्रदाः नृणाम् ।

अ० १६-८

श्रीधरः
अ० ५७.४८.४६

सुमद्रः
५७.११११
सुरसुन्दरः
१७ पृ० १७ वां
नन्द्यावर्तः
१७ पृ० १६ वां
सिद्धार्थः
१७ पृ० ६१
शङ्खवर्धनः
१७ पृ० ६२
त्रैलोक्य-भूषणः
१७ पृ० ६२, ६४

पद्मः
१७ पृ० ६४
पद्मवाहुः
१७ पृ० ६१
लक्ष्मीधरः
१७ पृ० ६८-६९

रतिदेहः
१७ पृ० ६९-७०

सिद्धिकामः
१७ पृ० ७०-७१
नन्दिघोषः
१७ पृ० ७२
सुरानन्दः
१७ पृ० ७१

मेवादिर्विशिकायाम्
श्रीधरं कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानवः ।
इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शान्तश्च स्यान्न संशयः ॥
प्रासादं ये सुभद्राख्यं कारयन्ति सुलक्षणम् ।
कल्पकोटिसहस्राणि भद्रं तेषां शिवाग्रतः ॥
कुर्याद् य एनं प्रासादमीदृशं सुरसुन्दरम् ।
स वैरिञ्चं युगशतं सूर्यलोके महीयते ॥
भक्त्या ये कारयन्त्येनं नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
विमानं शुभमारुह्य शक्रलोकं व्रजन्ति ते ॥
यः कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
स भवेत् सर्वकामाप्तिः शिवलोके च शाश्वतः ॥
यः शङ्खवर्धनं कुर्यात् स भुनक्ति चिरं महीम् ।
वशगा चास्य सततं भवेत्तन्ममी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य - भूषणं ब्रूमो वन्दितं त्रिदशैरपि ।
आश्रयं सर्वदेवानां पापस्य च बिनाशकम् ॥
त्रैलोक्य - भूषणं कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
कल्पान्तं यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्माख्यः कारितो येन प्रासादो रतिवत्लभः ।
आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधेः ॥
पद्मवाहुः कृतो येन त्रिगर्भः कर्मभूषितः ।
स त्रिनेत्र - प्रतापः स्यात् तुरङ्गनातनायकः ॥
अथ लक्ष्मीधरं ब्रूमो यं कृत्वा विजयं नरः ।
राज्यमायुष्यपूजां च गुणानामोति चैश्वरान् ॥
लक्ष्मीधराख्यं प्रासादं यः कुर्याद् वसुधातले ।
अक्षये स पदे तत्त्वे लीयते नात्र संशयः ॥
रतिदेहमथ ब्रूमः प्रासादं सुमनोरमम् ।
अप्सरोगण - संकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
एवं विधं यः कुरुते प्रासादं रतिवत्लभम् ।
सन्तोषयति कन्दर्पं स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकाममथ ब्रूमो प्रमथैरूपशोभितम् ।
धन - पुत्र - कलत्राणि कृते यन्नाप्नुयान्नरः ॥
नन्दिघोषमथ ब्रूमो त्रिपद्मभयनाशनम् ।
य एनं भक्तिः कुर्यात् स भवेदजरामरः ॥
यः करोति सुरानन्दं वरदास्तस्य मातरः ।
सुरास्तस्य ह्यनिस्तार्यमपमृत्युं हरन्ति च ॥

हर्षणः १७ पृ० ७७	हर्षणः क्रियते यत्र स देशः सुखमेधते । क्षेमं गोब्राह्मणानां स्यात् पूर्याकामश्च पार्थिवः ॥
दुर्जयः १७ पृ० ७६	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा । न भवेत् तत्र दुर्मिच्छं न च व्याधिकृतं भयम् ॥
त्रिकूटः १७ पृ० ७६	ब्रूमस्त्रिकूटं ब्रह्माद्यैः सेवितं त्रिदशैस्त्रिभिः । फलं ऋतुसहस्रस्य येन मोक्षं च विन्दति ॥
वृद्धिरामः १७ पृ० ८६	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम् । तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥
कैलासः १७-६३	भुक्त्वा भोगांश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम् । शार्वं पदमवाप्नोति शान्तं ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टपः १७ पृ० ६२	कृत्वा त्रिविष्टपं दिव्यं प्रासादं पुरभूषणम् । वसेत् त्रिविष्टपे तावद् यावदाभूतसंप्लवम् ॥
क्षितिभूषणः १७ पृ० ६६	तस्यान्ते तु परे तत्त्वे जयमाप्नोति मानवः । गुणवान् नृपतिर्यद्बद्ध भूषयत्यखिलां महीम् । क्षितिं विभूषयत्येवं प्रासादः क्षितिभूषणः ॥
विमानः १७ पृ० १०२	द्रव्येषु रेणुसंख्या या सुधायामपि यावती । तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत् ॥
मुक्तकोणः १७ पृ० १०६	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टैः ऋतुशतैर्भवेत् । तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानवः ॥
दिग्भद्रः ६४, १४.	निर्मापयन् नरः कश्चिन्मुक्तकोणं महायशः । संप्राप्नोति महासौख्यं विमुक्तः सर्वपातकैः ॥
महाभद्रः ६४, ७=	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सर्वकिल्बिषवर्जितः । सर्वपापविनिर्मुक्तो भोगं मोक्षं च विन्दति ॥
मलयद्रिः ६२, ३६	दिग्भद्रादिप्रासादेषु इमं दिग्भद्रसंज्ञं यः प्रासादं कारयेत् पुमान् । शतक्रतुफलं सोऽपि लभते नात्र संशयः ॥
सर्वाङ्ग-सुन्दरः ६२-१३१	महाभद्रमिमं योऽत्र कारयेद् भक्तिमान् नरः । स स्वर्गे सुरनारीभिः सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु मलयद्रिरयं प्रोक्तः प्रासादः शुभलक्षणः । य एनं कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकलाः सुराः ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते । सर्वाङ्गसुन्दरं ब्रूमः प्रासादमथ सुन्दरम् । भुक्तिमुक्तिप्रदातारं मण्डनम् ॥

टि०—इसी प्रकार का 'प्रासाद-स्तवन' समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु में भरा पड़ा है । यह उपलक्षण-मात्र है । वे ही पद्य चुने गये हैं जो 'दृष्टापूर्त' की श्रौर संकेत करते हैं ।

लोक-धर्मिणी

हिन्दू-प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियों को लेखक ने अपने उन्मेष से उद्भाविता किया है उनमें लोक-धर्मिणी का एक बड़ा ही महत्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक-धर्मिणी' इस शब्द-चयन में भारतवर्ष के इस विशाल भू-भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तों तथा उनके अनेक-वर्गीय एवं विभिन्न-भाषा-भाषी मानवों की मौलिक आस्था—भगवद्दर्शन, पुण्य-स्थानावलोकन, तपःपूत-पावनाश्रम-विहरण एवं प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, धाम, आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओं के कूलावास—एक शब्द में 'तीर्थ-यात्रा' से तात्पर्य है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक समुत्थान में, उसकी मौलिक एकता के संरक्षण में तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के संकल प्रयास में तीर्थ-यात्रा ने महान योगदान दिया है। मन्दिरों की स्थापना में तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एवं पुराण में प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा-माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि वह लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म ने प्रासाद-निर्माण की वह उर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नहीं अनेक नहीं शतशः नहीं सहस्रशः भी नहीं अग्रणीत प्रासादों की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत में इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश में निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी इसके प्रति उतनी ही ममता एवं प्रेम रखते हैं जितनी किसी भी भारत देश-निवासी की हो सकती है। महाभारत एवं अष्टादश पुराणों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक देन यही लोक-धर्म है; अतएव हमने इसके मर्म के मूल्याङ्कन में हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि मानी है जितनी अन्य पूर्व-प्रतिपादित पृष्ठ-भूमियों को।

विष्णु-संहिता में प्रासाद पूजा-गृह ही नहीं पूज्य भी है एवं ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय में 'भक्ति' ने बड़ा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म-प्रधान संस्था थी, पौराणिक प्रासाद भक्ति-प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद को इसी दृष्टि की दिव्य-ज्योति को देखने वाली किश्चयन महिला सुश्री कुमारी डा० कामरिश का निम्न कथन पठनीय है:—

"To the pilgrim and devotee who goes to the temple, it is a Tīrtha made by art, as others are by nature, and often it is both in one. A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built; it has of necessity to be seen. Darśana, the looking at the temple, the seat, abode and body of divinity and its worship (pūjā), are the purpose of

visiting the temple. To fulfil this purpose in addition to being an offering and work of pious liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form."

इस उद्धरण ने प्रासाद-निर्माण प्रयोजन पर पूर्व-प्रतिपादित पूर्व-धर्म में पूर्व-संकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो संकेत किया है उस पर वक्तव्य के लिये ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिसके आलोक से आलोकित हो कर मानव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानों का विज्ञान तत्त्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे 'आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व-विद्या का मूलमंत्र ज्ञानाधिगम है। विना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं— ऋते ज्ञानान् मुक्तिः। परन्तु यह ज्ञान-मार्ग बड़ा दुःसाध्य है—सर्वसुकर नहीं। सभी तो ज्ञानी नहीं अतः अज्ञानियों को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिये। अग्निपुराण (दे० १०६) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने से न केवल मुक्ति ही प्राप्य है वरन् मुक्ति भी। श्रुति एवं स्मृति, पुराण तथा आगम में प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहुँचने के उपाय हैं। भू-लोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुँचने के लिये सोपानों का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकार्यें एवं सर्वोपर प्रतिष्ठित 'ग्रामलक' साधन एवं साध्य की रूपक-रञ्जना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ-सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तास्त्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिसको पारकर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व में (साध्य) में लीन होने का साधन है। तीर्थ का यह आध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व—मोक्ष का उपाय है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ है (दे० महाभा० अनु० १७०. २-३; १२-१३); परन्तु अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भव सागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेतु है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इनको क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना मंत्राओं से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल में ऐसे स्थानों की संख्या संख्याती है:

तिस्रः कोट्योऽधंकोटिश्च तीर्थानां वायुश्रवीन।

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तस्मै जाह्नवी स्मृता ॥

म० पु० ११०.७

षष्टिकोटिसहस्राणि षष्टिकोटिशतानि च ।
तीर्थान्येतानि देवाश्च तारकाश्च नभस्तले ॥
गणितानि समस्तानि वायुना जगदायुषा ॥

ब्रह्म० पु० १७१. ८३

तस्माच्छृणुध्वं वष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ।
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि ॥

ब्र० पु० २५. ७-८

यहाँ पर एक निर्देश यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीयों ने जहां-जहां ऐसे सुन्दर प्राकृतिक स्थानों को देखा उनमें रमकर वहां पर आराधना का स्थान स्थापित किया — मन्दिर या पूजा-गृह का निवेश प्रारम्भ किया । इन स्थानों पर जल-योग अनिवार्य रहता था — कोई पुष्करिणी, तड़ाग, सरिता, संगम, समुद्र-वेला आवश्यक रहते थे ।

पर्वतों की पुण्य-भूमि भी तीर्थों के लिये विशेष उपयुक्त समझी गयी । अरण्यों को भी तीर्थ-स्थानों के स्थापन में कम महत्वपूर्ण नहीं समझा गया । यही कारण है, जैसा आगे के विवेचन से प्रकट है, इस देश में ऐसे प्राकृतिक स्थानों पर अग्रणी तीर्थों का उदय हुआ । इस देश की आध्यात्मिक संस्कृति (spiritual culture) की यह महिमा है अन्यथा भौतिकवादी तो इन स्थानों पर होटल बनवाते और शिकार खेलकर पड़ाव डालते जैसा पश्चिम के देशों में देखा जाता है ।

लोक-धर्म एवं उसमें तीर्थ-स्थानों की इस औपोद्धातिक समीक्षा में एक तथ्य यह है कि वैसे तो स्मृतिकारों के मत में तीर्थ-यात्रा सामान्य धर्मों में एक थी—

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरु-शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं बोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

परन्तु कालान्तर में पुण्यों की परम्परा में वह (अर्थात् तीर्थ यात्रा) अविकल सामान्य-धर्म—लोक-धर्म के रूप में परिणत हो गयी ।

हम जानते ही हैं कि मनु एवं याज्ञवल्क्यादि धर्म-शास्त्र-कारों के मत में तीर्थों का महत्त्व अत्यन्त ऊँचा नहीं था, परन्तु महाभारत एवं पुराणों में तो तीर्थ-माहात्म्य ही महा-माहात्म्य है । महाभारत वा इस लोक-धर्मिणी संस्था पर निम्न प्रवचन कितना मार्मिक है—

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्युमैर्नावगचौरैकात्मभिरसाधनैः ॥

यो वरिद्वैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
 तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध बुधांबर ॥
 ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥

महाभा० वन० ८२.१३-१७

अपि च

पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम् ॥
 विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत् ॥
 सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम् ।
 तीर्थं फलप्रदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा ॥

विष्णु-धर्मोत्तर तृ० २७३. ७ तथा ६

यहां पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म में लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा में भी निष्ठा की आवश्यकता है । तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नहीं है । महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
 विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
 प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् ।
 अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
 अकल्कको निरारम्भो लज्जाहारो जितेन्द्रियः ।
 विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ।
 अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ॥
 आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

महाभा० वन० २२६-१२

जो नैष्ठिक नहीं वे तीर्थ-फल के भागी नहीं बनते । अतः तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक साधना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊँचा किये विना निष्फल है । भाव-नैर्मल्य अनिवार्य है । स्कन्द-पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६.२८.४५)—

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थ-सेवा श्रुतं यथा ।
 सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ॥

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटो दयोर्मिः ।
 तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

वामन पु० ४३.२५

पद्मपुराण तो इस अर्थ को और आगे बढ़ा देता है (दे० द्वि० ३६. ५६-६१) ।

तीर्थों की कल्पना कब उदय हुई ? तीर्थों का जलाशय-मात्र अर्थ है अथवा इसके व्यापक क्षेत्र (wide scope) में अन्य स्थान भी गतार्थ है, कौन-कौन से स्थान विशेष प्रशस्त

है, पुराणों की तीर्थ-सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एवं देवालयों की ऐतिहासिक परम्परा का कहीं तक अनुसंधान हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिनपर इस उपोद्धात में सविस्तर वर्णन असंभव है अथवा अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय में लेखक की दृष्टि में सर्वतोपरिष्ठ पृष्ठ-भूमि तीर्थ हैं।

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओं में भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नहीं होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६६.६ तथा १७३.११ एवं चतुर्थ म० २६.३ में तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७.११—सुतीर्थं अर्चते यथानु नो नेषथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १.४६.८—अरित्रं वां दिवस्पृथू तीर्थे सिन्धूनां रथः—में तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोषकारों ने माना है—'तीर्थं योनौ जलावतारे च'—इति हलायुधः) निश्चित है। और आगे बढिये तो ऋग्वेद में ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य-स्थान का बोध होता है—तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्यूमाः—ऋ० दशम म० ३१. ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६.३७ वीं ऋचा—सुवास्त्वा आधि तुग्वनि—पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और 'तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। निम्न अवतरणों का पारायण रोचक होगा:—

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति'—

तै० सं० षष्ठ १. १. १-२

(ii) 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति स्रकावन्तो निषङ्गिणः'—

तै० सं० चतुर्थ ५. ११. १-२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यद्दहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे

यस्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमदीयात्तादृक् तत्

शा० ब्रा० द्वितीय, ६

(iv) 'ते अन्तरेण चास्वालोकरा उपनिष्कामन्ति

तद्धि यज्ञस्य तीर्थमामां नाम—

शा० ब्रा० १८. ६

(v) 'तीर्थेस्तरन्ति प्रवतो महीः' अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा धेमं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'चैतत्रै देवानां तीर्थम्' षडवि० ब्रा० ३. १

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (६. ४) एवं शा० श्रौ० सू० (५. १४. २) आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथों में भी 'तीर्थ' के संकेत हैं।

ऊपर एक आकृत है 'तीर्थ' शब्द के अभिधेयार्थ में एकमात्र जलाशय (सरिता आदि) से ही तात्पर्य है अथवा अन्य पावन स्थानों का भी ? इस जिज्ञासा में हमें पुनः प्राचीन साहित्य की शरण में जाना होगा ? ऋग्वेद में ही जल, सरितायें, पर्वत एवं अरण्य

भी देवतात्मा के रूप में परिकल्पित किये गये हैं; अतः ये सभी 'तीर्थ' हैं—ऐसा आकृत असङ्गत न होगा। ऋग्वेद के सप्तम म० ४६ वीं ऋचा में दिव्य जलों से रक्षा की अभ्यर्थना—ता आपो देवीर-इह मामवन्तु—से हम परिचित ही हैं। वहीं पर जल को 'पुनानः' कहा गया है। सप्त० म० की ४७ वीं तथा दशम की ६ वीं तथा ३० वीं ऋचाओं में तो जल में देवतात्मा का आरोपण कर सम्बोधन है। तै० सं० (द्वि० ६.८.३) का तो उद्धोष है—

'आपो वै सर्वा देवताः'

अथर्ववेद का जल-विज्ञान, कितना सत्य है, वह निम्न ऋचा में द्रष्टव्य है—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १. ३३-१

इस प्रकार हमने देखा वेद में जल कितना पवित्र है तो जल-वाहिनी नदियां और भी अधिक सुतरां पावन होंगी ही। ऋग्वेद की निम्न ऋचा के अवलोकन से लगभग २० नदियों की सूची प्राप्त होती है और उनका यत्र तत्र यथास्थान सुन्दर संकीर्तन भी प्राप्त होता है।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्यया ।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जाकीये शृगुह्या सुषोमया ॥

तुष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्वा रसया श्वेत्या स्या ।

त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहन्वा सरथं याभिरीयसे ॥

ऋ० दश० ७२-२-६

इनमें तीन प्रधान नदियां थीं—सरस्वती, सरयू तथा सिन्धु। ऋग्वेद में इन नदियों का बड़ा सुन्दर गुडगान है। इन्हें देवी और माता के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद में सरस्वती को—अभिवतमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति—कहा गया है। सिन्धु और गङ्गा के समान यह महानदी सरस्वती यदि आज भी होती तो कितना अच्छा होता—सरस्वती का तट बड़ा पावन था। वड़े-वड़े सत्र इसके पावन तट पर सम्पन्न हुए—ऐसा ऐ० वा० ८. १ का प्रमाण है—त्रपयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। देवल ने तो अपने प्रवचन में निम्नलिखित कतिपय सारस्वत-तीर्थ माने हैं—

पुच्छप्रस्रवणं वृद्धकन्याकं सारस्वतमादित्यती^० कौवेरं ,

वैजयन्तं पृथुदं नैमिशं विनशमं वंशोद्भेदं प्रभासमिति सारस्वतानि ।

इस महानदी के विलोप का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भूगर्भ-विद्या-विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदियों की पावनता पर संकेत करने के उपरान्त अब पर्वतों की प्रान्तर उपत्यकाओं को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में पर्वतों की उपत्यकायो एवं सरिताओं के सङ्गम पवित्र प्रतीत होते हैं:

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥ सप्तम म० ६. २८

ऋग्वेद में पर्वत का संकीर्तन इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने 'पर्वत' की मेघ के अर्थ में व्याख्या की है; परन्तु पृष्ठ म० ४६. १४ वीं ऋचा में 'पर्वत' अर्ध्विष्य एवं सविता के साथ-साथ स्वाधीन रूप में सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण 'मेघ' ही करते हैं; परन्तु तृतीय म० ३३. १ में तत्कालीन दो महानदियां विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलज) पर्वतों की गोद में निकलती हुई वर्णित की गयी हैं। यहाँ पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड़) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जड़ी बूटियों से परिचित था—

यदाङ्गनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातृश्च सर्वाङ्गभयत सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ अथ० ४. ६. ६

सूत्र-ग्रन्थों (दे० हिरण्यान्न, गौतम, बौद्धायन आदि) में पावन प्रदेशों की गणना में सभी पर्वत, सभी सरितायें, सभी पुण्यतोया पुष्करिणियां, ऋषि-आश्रम, देवतायतन आदि सभी पवित्र एवं तीर्थ माने गये हैं। पुराणों में तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरों की पावनता पर प्रचुर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं :

सर्वं पुण्यं हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वतः ।
समुद्रगाः समुद्राश्च सर्वे पुण्याः समन्ततः ॥ वायु० ७७. ११७

'राजा समस्त - तीर्थानां सागरः सरितां पतिः'

नारदीय (उत्तर) ५८. १६

सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः सर्वे पुण्या शिबोच्चयाः ।
नद्यः पुण्याः सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ॥ शङ्ख० ८. १४
सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्याः नगोत्तमाः ।
सर्वमायतनं पुण्य सर्वे पुण्या वनाश्रमाः ॥ पञ्च० ४. ८३. ४६
तास्तु नद्यः सरस्वत्यः सर्वाः गङ्गाः समुद्रगाः
विश्य मातरः सर्वा जगत्पापहराः स्मृताः

ब्रह्माण्ड २. १६. ३६

भागवत (पंचम १६. १६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० ६६. २०-२३) आदि में भी इसी प्रकार की प्रशंसा है। महाकवि कालिदास (कुमार १. १) भी तो हिमालय को 'देवतात्मा' कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षेत्र में सरिताओं एवं सागरों की ही गतार्थता नहीं बड़े-बड़े पावन तपःपूत अरण्य भी महातीर्थ हैं—नैमिषारण्य के माहात्म्य में कौन अपरिचित है? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) में अरण्य को देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है। वामन पुराण में कुरुक्षेत्र के सात अरण्य बड़े ही पावन एवं पापहर प्रतिपादित हैं :

शृणु सप्त वननीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ।

येषां नामानि पुण्यानि सर्व पापहराणि च ॥

काम्यकं च वनं पुण्यं.....।

अस्तु, विस्तरेणालम् । तीर्थ-स्थानों से तात्पर्य पुण्य-प्रदेशों से है—वे नदियां हैं या पुष्करिणियां, सागर हैं कि संगम, वन हैं कि पर्वत—वे सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इज्या ने पूत हो चुके हैं वे सब तीर्थों के नाम से प्रख्यात हुए ! हम जानते ही हैं कि हमारे शरीर में ही कोई-कोई अवयव (जैसे दक्षिण हस्त) अन्य अवयवों की अपेक्षा विशेष पुनीत समझा जाता है उसी प्रकार पृथिवी के नाना प्रदेशों में कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुपुमा, अपने अद्भुत प्रभाव, जलाधिक्य अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य के कारण विशेष पूत समझे जाते हैं वे ही तीर्थ हैं । प्राचीनान्चार्यों ने लिखा भी है:—

(i) यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।

तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमा स्मृताः ॥

प्रभावादद्भुताद्भूमेः सन्नित्यस्य च तेजसा ।

परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥ पद्म पु० द्वि० ६२. ४६-७

(ii) मुख्या पुरुष-यात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः ।

सद्भिः समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते ॥

यद्भिः पूर्वात्मैः सद्भिः सेवितं धर्म-सिद्धये ।

तद्भिः पुण्यतमं लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते ॥ स्कन्द पुराण

अर्थात् धर्म-सिद्धि के लिये सजनों से सेवित स्थान को—वह सरिता-तट है, पुष्करिणी-प्रदेश है या संगम हैं अथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या अन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की संज्ञा से पुकारे गये हैं ।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटों पर हम विचरण कर सके । विस्तार-मय से अब संक्षेप में तीर्थों की प्रधान और गौड़ सूची पर दृष्टि डालकर इस स्तम्भ को समाप्त करना है । ऊपर के उपोद्घात से तीर्थों की परिगणना में सर्वप्रथम नाम नदियों के हैं । नदियों में गङ्गा (नदीपु गङ्गा) का सर्वश्रेष्ठ पद है । अररयों में नैमिषारण्य, तडागों में पुष्कर तथा क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र । महाभारत का गान है:—

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।

त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥ वन प० ८३. २०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहों—दैव, आसुर, आर्ष एवं मानुष—में विभाजित करता है । इनमें प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवों के द्वारा प्रतिष्ठापित; द्वितीय असुरों के द्वारा सनिविष्ट (जैसे गया), तृतीय आर्ष यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा प्रभास, नरनारायण बदरिकाश्रम आदि) तथा अन्तिम मानुष—अम्बरीष, मनु, कुरू आदि राजन्वों के द्वारा ।

इसी पुराण में दक्षिणापथ की ६ नदियों तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथीय ६ नदियों—गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भार्गवरी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है ।

तीर्थों में 'त्रिस्थली' का माहात्म्य अति पुरातन है । त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग, काशी और गया से है । इन महातीर्थों पर बड़े-बड़े पोथे लिखे गये हैं । इनके अपने-अपने अनेक उप तीर्थ भी हैं । अस्तु, हम इन सभी तीर्थों पर यहाँ सविवरण वर्णन नहीं कर

सकते । विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणों का पारायण आवश्यक है । इस दिशा में डा० बाणें का महनीय प्रयास बड़ा ही स्तुत्य है—(See H. D. Vol. IV) । यतः यह अध्याय एवं इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उस पृष्ठ-भूमि की ओर संकेत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ यात्रा के लोक-धर्म में प्रासादों (मन्दिरों) की प्रतिष्ठा अनियार्थ एवं अभिन्न अङ्ग बनी; अतः हम उन्हीं तीर्थों पर अति संक्षेप में थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनों की प्रतिष्ठा से है । अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त में एक तीर्थों की देवतायतन-पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे ।

गङ्गा—तीर्थों में महातीर्थ गङ्गा है । भारतवर्ष की आध्यात्मिक महासंस्कृति में जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है । वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-ग्रन्थों में अपने-अपने जानपदीय संस्कारों एवं स्व प्रान्त-प्रम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से परिडितों ने एक तीर्थ को दूसरे तीर्थ से घटा-वढ़ाकर लिखा है; परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ हैं जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वरम् के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ है । नदियों में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है । गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रकट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी -- गीता १००. ३१ । गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादों, विमानों एवं आयतनों का उदय हुआ है । सभी महातीर्थ—वाराणसी, प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं ।

अस्तु, गङ्गा स्नान कैसे करना चाहिये, उस का क्या महत्व है, गङ्गा में अस्थि विसर्जन की परम्परा क्यों पल्लवित हुई—आदि नाना प्रश्नों पर तथा पुराणों में एवं महाभारत में गङ्गा-स्तुति की विस्तृत एवं वरुण्य विरुदावली (Grand Eulogy) पर जो बड़ा पृथुल प्रवचन है उससे कतिपय अवतरण यहाँ पर उद्धृत कर ही हमें सन्तोष करना है :

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता ।
विशेषो वै कनखले अयगो परमं महत् ॥
यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गावसेचनम् ।
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो ददस्यन्निरिवेन्धनम् ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अत्रगाढा च गीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥
यावदस्थि मनुस्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जनम् ।
तान्स पुरुषो राजन् स्वर्गलोकं महीयते ॥
न गङ्गाकदशं तीर्थं न देवः मेशवात्परः ।
यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम् ॥
सिद्धि-क्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीर-समाश्रितम् ।

महाभा० वनपर्व ८५. ८८-९७

स्नातानां शुचिभिस्तोयै गांगेयैः प्रयतात्मनाम् ।

व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ महा० अनु० २६. ३१

श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता ।
 वा पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने ॥
 गङ्गा गंगेति यैनाम योजनानां शतेष्वपि ।
 स्थितैश्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम् ॥

विष्णु पु० द्वितीय द. १२०-२१

दर्शनास्पर्शनात्पानात् तथा गंगेतिकीर्तनात् ।
 स्मरणादेव गङ्गायाः सद्यः पापैः प्रमुच्यते ॥ भविष्य-पुराण
 गच्छंस्तिष्ठन् जपन्ध्यायन् भुञ्जन् जाग्रत्स्वपन् वदन् ।
 यः स्मरेत् सततं गङ्गा सोऽपि मुच्येत बन्धनात् ॥

स्कन्द पु० का० ख० पूर्वा० २७. ३७ तथा नारद-पुराण (उत्तर) ३६. १६-१७
 सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ।
 गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गा-सागर-सङ्गमे ॥
 तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः ।

स्य पु० १०६. २४; क० पु० (प्र०) ३७. ३४; गरुड पु० (पू०) ८१. १-२ पद्मपु० (पञ्चम) ६०. १२

अकामो वा सकामो वा गङ्गायां योभिपद्यते ।
 मृतस्तु लभते स्वर्गं नरकं च न पश्यति ॥ म० पु० १०७. ४
 तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानां वायुरवतीत ।
 दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता ॥ क० पु०, प्रथ० ३६. ८
 किं यज्ञैर्बहुवित्तैः किं तपोभिः सुदुःकरैः ।
 स्वर्गमोक्षप्रदा गङ्गा सुखसौभाग्यपूजिता ॥ पद्म० पञ्चम ६०. ३६
 किमष्टांगेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः ।
 वास एव हि गङ्गायां सर्वतोऽपि विशिष्यते ॥ नारदीप (उ०) ३८. ३८
 सर्व एव शुभः कालः सर्वो देशस्तथा शुभः ।
 सर्वो जनो दानपात्रं श्रीमती-जाह्नवी-तटे ॥ का० ० २७. ६६
 जागजं पतितं दुष्टमन्त्यजं गुरुघातिनम् ।
 सर्वद्रोहेण संयुक्तं सर्व-पातक-संयुतम् ॥
 त्यजन्ति पितरं पुत्राः प्रियं पत्न्यः सुहृद्गणाः ।
 अन्ये च बान्धवाः सर्वे गङ्गा तान् परित्यजेत् ॥ पद्म.सू.ख.६०.२५-२६
 तीगद्गन्ध्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते ।
 तीरं त्यक्त्व वसेत्क्षेत्रे तीरे व सो न चेप्यते ॥
 एक्योजन - विस्तीर्णा क्षेत्र - सीमा तद्व्यत् ।

नारदीय (उ०) ४३. ११६-२०

नर्मदा—नदी-तीर्थों में गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है । नर्मदा का माहात्म्य
 इसीसे प्रकट है कि कहीं-कहीं पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्त्व ख्यापित है :

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यासुनम् ।

सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥

पद्म० आदि० १३. ७; मत्स्य १८६. ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य-पुराण (दे० १६४. ४५) तथा पद्म-पुराणे (आ० ल० २१. ४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्ठक से लगाकर उसके समुद्र-सङ्गम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एवं कूर्म में तो यह संख्या ६० करोड़ ६० हजार हो गयी। भले ही यह संख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसंख्यक तीर्थ एवं मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमें महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्र-तीर्थ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों में माहिष्मती की बड़ी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी संकीर्तित है। नर्मदा-माहात्म्य का भी कुछ स्वल्प में संकेत आवश्यक है। निम्न पद्यों का पारायण कीजिये:

पुण्या कनखले गङ्गा कुरुचेत्रे सरस्वती ।
 ग्रामे वा यदि वारयेये पुण्या सर्वत्र नर्मदा ॥ म० १८६. १०-११
 नर्मदा सरितां श्रेष्ठा रुद्रदेहाद्विनिःसृता ।
 तारयेत्सर्बभूतानि स्थावराणि चराणि च । म० १६०. १७
 पितृणां दुहिता पुण्या नर्मदा सरितां वरा ।
 तत्र श्राद्धानि दत्तानि अक्षयाणि भवन्त्युत ॥ वायु० ७७. ३२
 योजनानां शतं साम्रं श्रूयते सरिदुत्तमा ।
 विस्तारेण तु राजेन्द्र योजनद्वयमायता ॥ कृ० द्वि० ४०. १२

(ट०—जहाँ तक लम्बाई की नाप है वह तो प्रो० के० वी० रङ्गस्वामि आयङ्गर के मत में ठीक उतरती है परन्तु विस्तार तो इतना सर्वत्र नहीं।

गोदावरी—गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा—यह हम सभी जानते हैं। दंडकारण्य एवं पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरों का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनाग। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन संज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। ब्रह्म-पुराण की परम्परा में:

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते ।
 उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ॥ ब्र० ७८. ७७

ब्रह्म-पुराण में गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है; उनमें त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

गोदावरी की उपान्त-भूमि में नासिक एवं पञ्चवटी इन दो तीर्थों की बड़ी महिमा है। नासिक प्राचीन नगरी है। यह ईसा से कम से कम २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। चाम्बे गजेटियर में नासिक के ६० मन्दिरों एवं पञ्चवटी पर १६ मन्दिरों का उल्लेख है; परन्तु ये सभी मन्दिर कथाशेष हैं। १६८० ई० में औरंगजेब के दक्षिणी सूबेदार के द्वारा विनष्ट किये गये थे—यह ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक सभी विद्यमान मन्दिर पूना के पेशवा (१७५०-१८१८) के द्वारा निर्मापित हैं। इनमें तीन विशेष उल्लेख्य हैं—पञ्चवटी का रामजी, नारोशंकर अथवा घण्टा-मन्दिर तथा सुन्दर-नारायण। पञ्चवटी के सीता-गुफा के निकट कालाराम का मन्दिर भी बड़ा विख्यात है।

गोदावरी-स्नान की महिमा के सम्बन्ध में ब्रह्मपुराण में प्रवचन है:—

तिस्रः कोट्योऽधकोटी च तीर्थानि भुवनत्रये ।

तानि स्नातुं समायान्ति गङ्गायां सिंहगे गुरौ ॥

षष्टिवर्षसहस्राणि भागीरथ्यावगाहनम् ।

सकृद्गोदावरीस्नानं सिंहयुक्ते बृहस्पतौ ॥ ब्र० १७५.८३-८४.

अन्य नदी-तीर्थों का विस्तार अनावश्यक है। यमुनोपकूल-मन्दिरों (मथुरा-वृन्दावन आदि) से हम सभी परिचित ही हैं। अस्तु, अब नदी-तीर्थों से विदा लेकर पावन क्षेत्रों की पुण्य भूमि पर विचरण करें।

पुष्कर-क्षेत्र—महाभारत (वन पर्व ८२. २६-२७) का उद्धोष है:—

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।

सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवाचंने रतः ।

अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥

पद्म-पुराण का भी पारायण (पंचम २७. ७८) सुनिघे:—‘नास्मात्परतरं लोके-ऽस्मिन्परिपठ्यते’। यह अजमेर से ६ मील पर है। यहाँ पर ब्राह्म-प्रासादों में एक अब भी विद्यमान है। इसके कुण्डों (ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ) की बड़ी महिमा है। इस क्षेत्र की पुष्कर-संज्ञा का कारण यहीं पर कमल-भू—कमलासन ब्रह्मा के द्वारा अपने पुष्कर (कमल) का विसर्जन है।

कुरु-क्षेत्र—यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एवं महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन संकेत भी प्राप्त हैं (दे० ऋ० दशम ३३. ४; ऐ० ब्रा० सप्त० ३०; तै० ब्रा० पंचम १. १ एवं कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्मक्षेत्र पड़ा (दे० गीता — धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे)। आर्यों की गौरव-गाथा में कुरुक्षेत्र एवं ब्रह्मावर्त दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से बड़े प्रख्यात हैं। कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनों से प्रतीत होता है यह एक वेदिक संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ-स्थल—देवा वै सत्रमासत*... तेषां कुरुक्षेत्रे वेदिगसीत्—तै० ब्रा० पं० १. १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरु से पड़ा। व.मन-पुराण का प्राचीनाख्यान है—कुरु ने इन्द्र से वर मांगा:

यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु वः ।

स्नातानां मृतानां च महापुण्यफलं त्विह ॥

कुरुक्षेत्र की कितनी सीमा थी और यहाँ पर कौन-कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—इन सबका अखिल संकीर्तन न कर कुरुक्षेत्र के कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानों का नाम-संकीर्तन ही पर्याप्त है। इन में ब्रह्मसर नामक पुष्करिणी परम प्रख्यात है। व्यास-स्थली या व्यास तीर्थ आधुनिक वसथली, (थानेश्वर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील पर), अस्थिपुर (यहीं पर महाभारतीय यादवाओं का अस्थि-संस्कार हुआ था—अतः यथार्थनाम) के अतिरिक्त यहाँ पर एक प्राचीन मन्दिर था। व.गिंघम के मत में ‘चक्रतीर्थ’ इसी की रक्षा है। पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ सारस्वत तीर्थ) आधुनिक पेहेवा है जो कर्नवाल जिले में है।

वामनपुराण (दे० ३४. ३) तथा नारदीय (उ० ६५. ४-७) में कुरूक्षेत्र के सात पुण्यारणों का उल्लेख है:—काम्यक, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन तथा सितावन ।

त्रिस्थली

अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एवं प्रख्यात क्षेत्रों का यहाँ संकीर्तन न कर त्रिस्थली - प्रयाग, काशी और गया पर अति संक्षेप में समाहार कर तीर्थ-सूची से तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी ।

प्रयागराज—प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है । प्रयाग पर सर्वप्राचीन संकेत ऋग्वेद के एक खिल में (दे० मं० १०. ७५) में है । पुराणों एवं महाभारत में इसकी बड़ी महिमा गायी गयी है । तीर्थराज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये हैं:—प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वेणी (त्रिवेणी) । प्रयाग शब्दार्थतः प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र (प्रकृष्ट) + याग (जहाँ पर)) कहलाया । राज शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—ऐसा पुराणों का विश्वास है । प्रयाग के पूर्वोक्त तीन प्रधान विभाजनों के अनुरूप निम्नलिखित १४ उप-तीर्थ भी हैं:—

१. वट (अक्षय वट)—यहाँ प्राणत्याग प्रशस्त माना गया है ।
२. दो नाग—कम्वल तथा अश्वतर—यमनोपकूल (दक्षिणे) ।
३. प्रतिष्ठान (समुद्र-कूप)—गंगा के पूर्वभाग ।
४. सन्ध्यावट
५. हंस-प्रपतन—प्रतिष्ठान के उत्तर, (गंगापूर्व)
६. कोटि-तीर्थ
७. भोगवती—प्रजापति की वेदी, वासुकि के उत्तर ।
८. दशाश्वमेधक —
९. ऊर्वशीपुलिन—यहाँ पर भी प्राण-त्याग प्रशस्त है ।
१०. ऋण-प्रमोचन—यमुना के उत्तर तथा प्रयाग के दक्षिण ।
११. मानस—गंगा के उत्तर ।
१२. अग्नितीर्थ—यमुना के दक्षिण कूल पर ।
१३. विरज— ” उत्तर ”
१४. अनरक—धर्मराज के पश्चिम ।

निम्नोद्धृत पद्यों में प्रयाग-प्रतिष्ठा पर प्रचुर प्रकाश पड़ेगा:—

एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्वाः ॥ कू० प्र० ३६. २०

टि०—माहाकवि कालिदास भी तो इसी प्राचीन परम्परा की आस्था का विश्वास दिलाते हैं:—

‘तत्त्वावबोधेन बिनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीर-बन्धः’ ॥ रघु० १३. २५

दशतीर्थसहस्राणि तिष्ठः कोट्यस्तथापराः ।

समागच्छन्ति माध्यां तु प्रयागे भरतर्षभ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ।
 स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ महा० अनु० २५.३६-३८
 दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
 मृत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ म० १०४.१२; कृ० प्र० ३६.२७
 गंगा यमुनयोर्वीर सङ्गमं लोकविश्रुतम् ।
 यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ॥
 प्रयागमिति विस्तातं तस्मिन्नरतसत्तम् ॥ महा० व० ८७.१८-१९
 प्रकृष्टं सर्वयानेभ्यो प्रयागमिति गीयते ।
 दृष्ट्वा प्रकृष्टयानेभ्यः पुष्टेभ्यो दक्षिणादिभिः ॥
 प्रयागमिति तन्नाम कृतं हरिहरादिभिः ॥ (दे० त्रिस्थली पृ० १३)
 प्रकृष्टत्वात्प्रयागोऽसौ प्राधान्याद्वाजशब्दान् ॥ ब्रह्म पु० ॥
 आप्रयागं प्रतिष्ठानाद्यपुरा वासुकेह दाव ।
 कम्बजाश्वतरो नागौ नागरश्च बहुमूलकः ॥ म० १०४.५, प० प० ३६.६६-७०
 पूर्वपार्वे तु गङ्गायास्त्रिषु लोकेषु भारत ।
 कूपं चैव तु सामुद्रं प्रतिष्ठामं च विश्रुतम् ॥ म० १०६.३
 'तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि तेषां मध्येन जाह्नवी' । महा० व० ८२.७३
 प्रयागे निवसन्त्येते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
 उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छ्रमना ब्रह्म तिष्ठति ।
 वेणी माभवरूपी भगवांस्तत्र तिष्ठति ॥
 माहेश्वरो वटो भूत्वा तिष्ठते परमेश्वरः ।
 ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥
 रक्षन्ति मण्डलं नित्यं पापकर्मनिवारणात् ॥ म० वृ० ४-१०
 कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
 गङ्गायां पुष्करे सेतौ गङ्गाद्वारे च नैमिषे ॥
 यद्दामं दीयते शक्त्या तदानन्त्याय कल्पते । (दे० त्रिस्थ० पृ० २५)
 श्रोमित्येकाक्षरं ब्रह्म परब्रह्माभिधायकम् ।
 तदेव वेणी विज्ञेया सर्वसौख्यप्रदायिनी ॥
 अकारः शारदा प्रोक्ता प्रद्युम्नस्तत्र जायते ।
 उकारो यमुना प्रोक्तानिरुद्धस्तज्जजात्मकः ॥
 मकारो जाह्नवी गङ्गा तत्र सङ्कर्षणो हरिः ।
 एवं त्रिवेणी विख्याता वेदवीजं प्रकीर्तितः ॥ (दे० त्रिस्थ० ५० ८)

काशी— प्राचीनता, पुरायता एवं प्रशस्तता में काशी की समता इस देश की (और
 विदेश की भी) कोई भी नगरी नहीं कर सकती । धर्म-पीठ और विद्या-पीठ—धर्म-क्षेत्र एवं
 शास्त्र-क्षेत्र का यह काञ्चन-रत्न-संयोग अन्यत्र दुर्लभ है । न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक
 विशिष्ट एवं विलक्षण शाला बौद्ध—धर्म का भी यह प्रधान ही नहीं प्रथम प्रवर्तन-पीठ है ।

वाराणसी और काशी का बड़ा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा० बृहदारण्य एवं कौषीतकी उपनिषदों आदि में भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में भी काशी के प्राचीन संकेत हैं। महाभारत और हरिवंश में तो पूरा इतिहास पढ़ने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रन्थों के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एवं प्रख्यात नगर था। पुराणों में तो पृथुल प्रवचन हैं।

अस्तु, इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पांच नाम हैं—वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन, और श्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामों का भी लम्बा इतिहास है। संक्षेप में काशी काशते प्रकाशते राजते वा से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिङ्ग की आधायिका है। वाराणसी में वहाँ की दो प्राचीन नदियों—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्त्वविद्या बड़ी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ में एक आध्यात्मिक रहस्य पर जावालो-पनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बड़ा सुन्दर संकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप में उपास्य है क्योंकि आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। पुनः प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा वहाँ पर है ? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य में अविमुक्त प्रतिष्ठित है ? वरणा और नासी का क्या अर्थ ? वरणा सर्वेन्द्रिय-दोषों को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापों को काटने वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनों का स्थान कहाँ ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—अ० और नासिका का जो सन्नि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न+विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पावती के द्वारा यह स्थान कभी भी नहीं विमुक्त—छोड़ा गया।

चौथा नाम आनन्द-कानन का साधारण अर्थ है क्योंकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहाँ पर उनको बड़ा आनन्द मिलता है अतः आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यों कहा जाता है ? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है; 'शान' का अर्थ शयन है। अतः जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहाँ पर शवरूप में शयन करते हैं इसलिये इसकी महाश्मशान संज्ञा है। पद्म-पुराण में शिव ने स्वयं कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इसलिये विख्यात है क्योंकि मैं यहीं से इस सम्पूर्ण जगत का संहार करता हूँ।

अस्तु, काशी की सबसे बड़ी महिमा वावा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर में पुराणों में भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत में अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही है। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की परम्परा एवं प्रसिद्धि से हम सभी परिचित हैं, परन्तु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग सर्वश्रेष्ठ है—दे० काशी-खण्ड २६. ३१—'ज्योतिर्लिङ्गं तदेकं हि श्रेयं विश्वेश्वराभिषमम्'।

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य मुख्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थों के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलार्क (सूर्य-मन्दिर जहां पर द्वादशादित्यों की प्रतिष्ठा है), केशव, विन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका । आजकल तो पञ्चतीर्थों में गङ्गा और असि का संगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगङ्गा घाट और गङ्गा तथा वरुणा का संगम प्रसिद्ध हैं । वाराणसी-तीर्थ यात्रा में इन प्रधान पीठों के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रांशी परिक्रमा' का भी बड़ा माहात्म्य है । काशी में कपाल-मोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध है । सम्भवतः यह मध्यकालीन परम्परा है । अस्तु निम्न पद्यों में काशी-पुराण का कुछ आभास मिलेगा:—

अविमुक्तिमिदं क्षेत्रं कदारभ्य भुवस्तले ।
 परां प्रथितिमापन्नं मोक्षदं चाभवत्कथम् ॥
 कथमेवा त्रिलोकोद्भवः गीयते मणिकर्णिका ।
 तत्रासौर्णिक पुरा स्वामिन् यदा नामरनिम्नगा ॥
 वाराणसीति काशीति रुद्रवास इति प्रभो ।
 अवाप नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी ॥
 आनन्दकाननं रम्यमविमुक्तमनन्तरम् ।
 महाश्मशानमिति च कथं ख्यात शिखिध्वज ॥ स्कन्द० का० २६, २-५
 अस्यानन्दवनं नाम पुराकारि पिनाकिना ।
 क्षेत्रास्यानन्दहेतुत्वादविमुक्तमनन्तरम् ॥ स्क० का० २६, ३४
 काशतेऽत्र यतो ज्यातिस्तदनायेमीश्वरः ।
 अतो नामापरं चास्तु काशीति प्रथितं प्रभो ॥ स्क० का० २६, ६७
 काशी ब्रह्मेति विख्यातं तद्विवर्तो जगद्भ्रमः ।
 अविमुक्तं तदेवाहुः काशीति ब्रह्मवादिनः ॥ त्रिस्थ० पृ० ८८,
 वरणायास्तथा चास्या मध्ये वाराणसी पुरी । पद्म० आ० ३३, ४६
 अत्र महासिरूपां च प्राप्य सन्मतिस्खण्डनीम् ?
 दक्षिणोत्तरदिग्भागे कृत्वासिं वरणां सुराः ।
 क्षेत्रस्य मोक्षनिक्षेपरक्षानिर्वृतिमययुः ॥ का० ३०, २०-२१
 वरणा च असी चापि द्वे नद्यौ सुबल्लभे ।
 अन्तरालं तयोः क्षेत्रं मध्ये वध्या न विशते क्वचित् ॥ पद्म० पञ्च०, १४, १६१
 मुने प्रलयकालेऽपि न तत्क्षेत्रं कदाचन ।
 विमुक्तं हि शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः ॥ स्क० काशी २६, २७
 विमुक्तं न मया यस्मिन्मोच्यते वा कदाचन ।
 मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम् ॥ बिङ्ग (पू०) ६२, ४५-४६
 अविशब्देन पापस्तु वेदोक्तः कथ्यते द्विजः ।
 तेन मुक्तं मया जुष्टमविमुक्तमतोच्यते ॥ लि० (पू०) ६२, १४३
 यथा प्रियतमा देवि मम त्व सर्वं सुन्दरि ।
 तथा प्रियतरं चैतन्मे सदानन्दकाननम् ॥ का० ३२, १११

श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते ।
 निर्गच्छन्ति श्मशानार्थं मुनेः शब्दार्थकोविदाः ॥
 महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते ।
 शेरतेऽत्र शवा भूत्वा श्मशानं तु ततो महत् ॥ का० ३०. १०३-४
 वाराणसीति काशीति लुद्रवास इति द्विज ।
 महाश्मशानमित्येकं प्रोक्तमानन्दकाननम् ॥ ३०. १११
 श्मशानमेतद् विख्यातमविमुक्तमिति ध्रुतम् ।
 काञ्चो भूत्वा जगदिदं संहरायत्र सुन्दरि ॥ पद्य० १. ३३. १४
 महाश्मशानमासाद्य यदि दैवाद्विपद्यते ।
 पुनः श्मशानशयनं न कापि लभते पुमान् ॥ का० ३१. १७२
 जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं पूर्णसञ्चितम् ।
 अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजति क्षयम् ॥ म० १८१. १७
 नहि योगादृते मोक्षः प्राप्यते भुवि मानवैः ।
 अविमुक्ते निवसतां योगो मोक्षश्च सिध्यति ॥ म० १८२. १५-१६
 सहोवाचेति जाषालिरारूढेऽसिरिडा मता ।
 वरणा पिङ्गला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम् ॥
 सा सुषुम्ना परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ । स्क० का० ५-२५
 पिङ्गला नाम या नाडी आग्नेयी सा प्रकीर्तिता ॥
 शुष्का सरिच्च सा ज्ञेया लोलाकौ यत्र तिष्ठति ।
 इडानाग्नी च या नाडी सा सौम्या प्रकीर्तिता ।
 वरणा नाम सा ज्ञेया केशवो यत्र संस्थितः ॥
 आभ्यां मध्ये तु या नाडी सुषुम्ना सा प्रकीर्तिता ।
 मत्स्योदरी च सा ज्ञेया विपुलं तत्प्रकीर्तितम् ॥ (दे० त्रिस्थ०)
 तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने ।
 दशाश्वमेधं लोलाकः केशवो विन्दुमाभवः ॥
 पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका ।
 एभिस्तु तीर्थवर्षैश्च वर्यते ह्यविमुक्तकम् ॥ म० १८२. ६८-६९
 तस्यार्कस्य मनो लोलं यदासीत्काशिदर्शने ।
 अतो लोलाकं इत्याख्या काश्यां जाता विवस्वतः ॥ स्क० का० ४६. ४८

गया—‘त्रिस्थली’ के दो स्थल—प्रयाग और काशी पर इस संक्षिप्त प्रवचनोपरान्त
 अब गया पर चलो पूर्वजों की गया करें । वास्तव में तीर्थ-क्षेत्र एवं मन्दिर-पीठ दोनों की
 दृष्टि से गया का बड़ा महत्व है । प्रत्येक हिन्दू अपने दिवंगत पिता की गया करने का
 अभिलाषी रहता है । बहुसंख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते हैं । गया हिन्दुओं एवं
 बौद्धों दोनों का ही महातीर्थ है । गया और बुद्ध-गया इन दोनों नामों से हम परिचित हैं ।
 बुद्ध गया पर हम आगे तीसरे पटल पर लिखेंगे । हिन्दू-दृष्टि से गया की संक्षिप्त समीक्षा
 आवश्यक है ।

वांयु-पुराण का गया-माहात्म्य बड़ा विशद है। गया के इतिहास, पुराण एवं नाना उपाख्यानो के इतिवृत्तों एवं रूपक-रञ्जनाओं का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इसका प्राचीन-तम साहित्य पोषण करता है। 'गय' आर्ष-संज्ञा है। ऋ० दशम, ६३. १७ तथा ६४. १७ में—'असतावि जनो दिव्यो गयेन'—आया है; अतः यह आकृत समर्थित होता है। अथर्ववेद (१. १४. ४) में गय एक जादूगर के रूप में निर्दिष्ट है। वैदिक संहिताओं के असुर, दास, राजस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अतः बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर 'गय' पुराणों का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरस' की तथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणों से भी प्राचीन है। निरुक्त-कार वास्क ने 'इदम् विष्णु-विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' की शाकपूणि की व्याख्या में प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौ) संकेत के साथ-साथ और्णवाय की व्याख्या में समारोहण, विष्णु-पद एवं गयशिरस का भौगोलिक संकेत भी दिया है। अथच 'गयशिर' शब्द पर नाना संकेत बौद्ध-ग्रन्थों में आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रन्थ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का संकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वां सर्ग) में भगवान बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—ऐसा वर्णन है। वहीं पर (दे० १८ वां सर्ग) गया में स्थित उरुविल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारि—ऐसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५. ४०) में विष्णुपद की महिमा में उसे श्राद्ध का पुण्य स्थान माना गया है। समारोहण यथानाम किसी 'प्रान्तर' प्रदेश (किष्ठी पहाड़ी के ऊपर समतल भूमि पर स्थिति नगर या दुर्ग) से है। सम्भवतः फल्गु नदी के निकट पहाड़ी से इसका परामर्श है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि और्णवाय का यह 'गयशिरस' संकेत गया से ही है। गया की 'गयशिरस' संज्ञा का पौराणिक आख्यान बड़ा ही रोचक है। गयासुर नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिसकी ऊँचाई १२५ योजन तथा परीणाह (मोटाई) ६० योजन था ! वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। अब देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा उनको लेकर शिवधाम पधारि। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ। अब विष्णु सबको साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उसकी इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मांगने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतो-वरिष्ठा पुण्यता मांगी। देवों ने 'तथास्तु' कहा और स्वर्ग चले गये। अब क्या जो कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यत्मा हो जाता और स्वर्ग पहुँचता। वेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहाँ भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा यम को साथ लेकर पुनः विष्णु के पास गये और कहा आप गयासुर से यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर मांग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धदाम से जमान पर गिर पड़ा—शिर कोलाहल पर्वत के उत्तर में और पैर दक्षिण में। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-संभार जुटाये। परन्तु यज्ञ-कार्य में ब्रह्मा को एक बाधा दिखाई बड़ी—गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवों से उस पर खड़े होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना न रुका तो वेचारे पितामह पुनः पुराण-पुरुष विष्णु के पास गये और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलने से बचाइये। विष्णु ने

अपनी 'मूर्ति' देकर कहा जाओ इसको रख दो हिलना बन्द हो जावेगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहाँ आ गये और स्वयं जनार्दन, पुण्डरीक तथा आदि-गदाधर के रूप में; ब्रह्मा प्रथितामह पितामह, फल्ग्वीश, केदार और कनकेश्वर के पांच रूपों में; विनायक गणेश गजरूप में तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी (सीता), गौरी (मङ्गला), गायत्री सरस्वती भी सभी अपने अपने नाना रूपों में उस शरीर पर सवार हो गये। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई—इस तरह उसे क्यों धाका दिया गया ? जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुनः इस सब लाद से क्या प्रयोजन ? उस पर भी विष्णु ने अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर)—देवों ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मांगने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया-क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर ने वर मांगा—“जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारागण का अस्तित्व है तब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च-क्रोश-परिमित गया-क्षेत्र एवं क्रोशैक-परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य में केन्द्रित रहें। सभी देवगण अव्यक्त (पद-चिन्हदि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप में विराजमान रहें। जिनको यहाँ पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्रह्मलोक जावें और ब्रह्म-हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहाँ नाश हो जावे।” देवों को तथास्तु कहना पड़ा।

गया के पुराणमाख्यानम् पर इस संक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्राह्मणों की दुर्दशा पर कुछ अश्रुक्रणों का पात आवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणों को दे डाला; यहाँ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धियाँ थीं। 'असन्तुष्टाः द्विजाः नष्टाः' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहां के ये ब्राह्मण बड़े लालची थे। उनका पेट नहीं भरा। उन्होंने धर्मारण्य में धर्मराज के नाम पर बड़ा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मांगी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बड़े क्रुद्ध हुए और आकर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्राह्मण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियों के द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिणा के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं।

अन्त में गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वरूप संकीर्तन अपेक्षित है। गया के तीर्थों की संख्या काफी बड़ी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त हैं, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बड़ा है जो भगवान् विष्णु के पद-चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाड़ी पर है जो फल्गु नदी के पश्चिम पार्श्व में स्थित है। गया में लगभग ४५ श्राद्ध-वेदियाँ हैं जिनमें पांच प्रमुख हैं—प्रेत-शिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्म-कुण्ड तथा काक-वलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त क्रोशैक परिमित गय-शीर्ष के मुण्डपृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाशोधि तरु' हिन्दुओं के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धों के लिये—गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ हैं।

अस्तु, बायु-पुराण आदि में वर्णित निम्नलिखित गया-तीर्थ-सूची विशेष दृष्टव्य है:

पुरणतोया सरितायं	पावन पर्वत एवं उनके कूट	
फल्गु महानदी	गयाशिर	आदिपाल
घृतकुल्या	मुरडपृष्ठ	क्रौंचपाद
मधुकुल्या	प्रभास	रामशिला
मधुस्रवा	उचन्त	प्रेतशिला
अग्निधारा	भस्मकूट	नग
कपिला	अरविन्दक	ब्रह्मयोनि
वैतरणी	नागकूट	
देविका	गृध्रकूट	
आकाशगङ्गा		

पुरण-स्नान-स्थान		पावन स्थान	
फल्गुतीर्थ	उत्तरमानस	पञ्चलोक	आम्र
रामतीर्थ	दक्षिणमानस	सप्तलोक	गृध्रकूटवट
शिलातीर्थ	रुविमणीकुरण्ड	वैकुण्ठ	महाबोधितरु
गदालोल	प्रेतकुरण्ड	लोहदण्डक	
वैतरणी	निःक्षारा	गोप्रचार	
ब्रह्मसर	पुष्करिणी	धर्मारण्य	
ब्रह्मकुरण्ड	मतङ्गवापी	ब्रह्मयूप	

टि०—पावन पदों में विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, काश्यप, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, साम, आबसध्य, शक्र, अगस्त्य, क्रौञ्च, मातङ्ग, सूर्य, कार्तिकेय तथा गणेश के प्रसिद्ध हैं जिनमें चार सर्व-प्रसिद्ध—काश्यप, विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा—उनमें 'ब्रह्मपद' सर्व-श्रेष्ठ ।

अन्त में निम्न श्लोकों में गया-माहात्म्य देखिये :—

अश्मपृष्ठे गयायां च निरघिन्दे च पर्वते ।

तृतीयां कौञ्चपक्षां च ब्रह्म-हत्या विशुध्यते ॥ महा० अनु० २५-४२

एष्टव्या वह्मः पुत्रा यद्येकोपि गयां ब्रजेत् ।

यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

महानदी च तत्रैव तथा गयाशिरो नृप ।

यन्नासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो ।

सा च पुरणजज्ञा तत्र फल्गुनामा महानदी ॥ महा० धन० ८७-१०-१२

गयाशिरे तु यत्किञ्चिन्नाम्ना पिण्डं तु निर्धपेत् ।

नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः ॥ लिखित स्मृति Kane H.D.

ब्रह्मज्ञानं गयाश्चाद्धं गोप्रहे मरणां तथा ।

वासः पुसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेवा चतुर्विधा ॥ वायु० १०२-१६

गङ्गापादोदकं विष्णोः फल्गुगुह्यादिगदाधरः ।

स्वयं हि द्रवरूपेण तस्माद्गङ्गाधिकं विदुः ॥ वा० १११-१६

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बड़ा हो गया । ऐसा प्रतीत होता है 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' । कहां तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में तीर्थ-माहात्म्य की लोक-धर्मिणी संस्था का मूल्याङ्कन करने चले ये वहां वह स्वयं महा प्रासाद के रूप में इतनी ऊँची उठ गयी । वास्तव में हिन्दू-संस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान है वही महतो महीयान बन जाता है ।

अस्तु, ग्रन्थ-विस्तार-भय से अब यह विवरण संकोच्य है । परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एवं महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये । भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास में पुण्यनगरियों की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी कान्ची ह्यवन्तिका ।

एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ॥ ब्रह्माण्ड चतु० ६०-६१

काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि ।

मथुरावन्तिका एता सप्त पुयोंऽत्र मोचदाः ॥

धामों में बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर तथा द्वारका अत्यन्त पावन एवं प्रसिद्ध हैं । इन पर स्थित मठों एवं मन्दिरों की कुछ विस्तार से समीक्षा हम आगे करेंगे ।

(दे० तृतीय पटल—प्रासाद-वास्तु के स्मारक)

यहां पर जगन्नाथपुरी, जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से प्रख्यात है, उस पर थोड़ा सा विवेचन प्रासङ्गिक है ।

जगन्नाथपुरी उड़ीसा में है । उड़ीसा में चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्र हैं—भुवनेश्वर (चक्रतीर्थ), जगन्नाथ (शंख-क्षेत्र), कोणार्क (पद्म-क्षेत्र) तथा जैपुर (गदा-क्षेत्र) ।

पुरुषोत्तम-तीर्थ (जगन्नाथपुरी) पर ब्रह्मपुराण (दे० अ० ४७-७० लगभग १६०० श्लोक) तथा बृहन्नारदीय (उत्तरार्ध अ० ५२-६१ लगभग ८०० श्लोक) में बड़े विस्तार से वर्णन है । उड़ीसा की दो और संज्ञायें हैं—ओण्डू तथा उत्कल । पुराणों की वार्ता है : अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न इस महातीर्थ की गौरव-गाथा सुनकर अपने सैन्य, सेवक, पुरोहितों और स्थपतियों को लेकर यहां पर भगवान् वासुदेव के दर्शनार्थ आ पहुँचा । वहाँ पर भगवान् जगन्नाथ की इन्द्रनीलमणिमयी प्रतिमा थी जो बालुका में विलुप्त हो लतागुल्म से अदृश्य थी । इन्द्रद्युम्न ने वहाँ पर अश्वमेध यज्ञ किया और एक बड़ा प्रासाद (मन्दिर) बनवाया और जब उस मन्दिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो रात्रि में उसे स्वप्न हुआ कि समुद्रवेला पर स्थित वटवृक्ष के निकट प्रातस्तथाय जावे और वटवृक्ष को काट लावे । राजा ने वैसा ही किया और वहाँ पर उसे दो ब्राह्मण मिले जो वास्तव में स्वयं भगवान् विष्णु और विश्वकर्मा थे । भगवान् ने राजा से कहा कि उनका यह साथी (दूसरा ब्राह्मण) तुम्हारे लिये प्रतिमा बनावेगा । विश्वकर्मा ने इन्द्रद्युम्न के द्वारा निर्मापित प्रासाद में

प्रतिष्ठार्थं कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन काष्ठमयी मूर्तियाँ बनाकर प्रदान कीं। विष्णु ने राजा को बिना मांगे वर भी दिया कि जिस कुण्ड पर उसने व्रतान्त श्रवणस्नान किया है वह उसके नाम से विख्यात होगा तथा जो आगे के लोग इसमें स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक को जायेंगे। अस्तु, इस वार्ता से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषोत्तम एक प्राचीन स्थान था जो नीलाचल के नाम से विश्रुत था। यहां पर कृष्ण की उपासना में ऋष्यमयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा से यह परम्परा कुछ विशेष प्राचीन प्रतीत होती है।

राजेन्द्रलाल मित्र (See 'Antiquities of Orissa') का आकृत है पुरुषोत्तम-क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालों में विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल (Vaisṇava period)। प्राचीनतम हिंदू काल का कुछ आभास ऊपर की पौराणिक वार्ता से प्राप्त हो सकता है। बौद्ध-काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल (उड़ीसा) में अशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाड़ी), एवं खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पांच मील की दूरी पर है) में बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरों के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव में जगन्नाथ की रथ-यात्रा (Car-procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (Procession of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एवं जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्तित्रय-परम्परा (दो भाइयों के साथ बहन) पर बौद्ध-धर्म के त्रिक—बुद्ध, धर्म एवं संघ का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एवं सहिष्णु समय का उद्घोष करता है जब शैवों एवं वैष्णवों के पारस्परिक सौहार्द्य की सरिता बह निकली थी। जगन्नाथ के प्रधान प्रासाद के अतिरिक्त यहां पर १२० मन्दिर और हैं जिनमें १३ तो शिवालय ही हैं। सूर्य-मन्दिर भी है। हिन्दू-धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय यहां पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुओं का चार धामों में यह एक अन्यतम धाम है। ब्रह्मपुराण (५६. ६४-६६ तथा ६६-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितने सार्थक हैं :

शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम् ।
अस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे ॥
शिवस्यायतनं देव करोमि परमं महत् ।
प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शङ्करम् ॥
ततो ज्ञास्यन्ति लोकैऽस्मिन्नेकमूर्तीं हरीश्वरौ ।
प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्तं महामुनिम् ।

....
नावयोऽन्तरं किञ्चिदेकभावां द्विधा कृतौ ॥
यो रुद्रः स स्वयं त्रिण्युर्यो विष्णुः स महेश्वरः ।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र नहीं। यहां पर छुआछूत का भेद बिलकुल नहीं। यहां का भात ही पावन प्रसाद है। सभी उसे निस्संकोच स्वीकार करते हैं। यह 'महाप्रासाद' सुखाकर लोग अपने अपने घर ले जाते हैं। यहां की

रथ-यात्रा सत्र महोत्सवों की शिरोमणि है। आपाढ़ शुक्ल द्वितीया में यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीनों—कृष्ण, सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सलाञ्छन रथ चलते हैं जो यात्रियों के द्वारा खींचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती है और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथपुरी में भी पांच प्रधान तीर्थ हैं—मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम, समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्ड :

मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिण्येय महोदधिम् ।

इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधिःस्मृतः ॥ प्र० ६०, ११

जगन्नाथ के मन्दिरों पर आगे के पटल में समीक्षा होगा अतः इस धाम की इस पूर्वपीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश-ज्योतिर्लिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१. १८. २१-२४) का प्रवचन है :

पृथिन्यां यानि लिङ्गानि तेषां संख्या न विद्यते ।

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम् ।

उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारे परमेश्वरम् ॥

केदारं हिमवत्पृष्ठे ढाकिन्यां भीमशङ्करम् ।

वाराणस्यां च विश्वेशं ज्यम्बकं गौतमीतटे ॥

गौडनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने ।

सेतुबन्धे च रामेशं कृष्णेशं च शिवाब्जये ॥

द्वादशैतानि नामानि प्रातरुथाय यः पठेत् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत् ॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओं एवं नाना सम्प्रदायों के अनुरूप इस देश में अग्रणीत पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठों की प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा-विज्ञान'— इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बार्हस्पत्य सूत्र' (तु० ११६-१२६) में वैष्णवों, शैवों एवं शाक्तों के निम्न आठ आठ पावन क्षेत्रों का निर्देश है :

वैष्णव-क्षेत्र	शैव-क्षेत्र	शाक्त-क्षेत्र
वदरिका	अविमुक्त	ओम्घीण
सालग्राम	गङ्गाद्वार	जाल
पुरुपोत्तम	शिवक्षेत्र	पूरण
द्वारका	रामेयमुना	काम
त्रिलवाचल	शिवसरस्वती	कोल्ल
अनन्त	मध्य	श्रीशैल
सिंह	शार्दूल	काञ्ची
श्रीरङ्ग	गज	महेन्द्र

टि०—इनमें बहुतों का भूगोल सम्भवतः समझ के बाहर है।

अस्तु, अगणित तीर्थों की तालिका* अब भी अवशेष है। अन्त में औपौद्धातिक उस महातथ्य का माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव में सत्य-भूमि, तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ-भूमि—धर्म-भूमि है। पञ्च-पुराण (द्वि० ३६.५६-६१) का प्रवचन है: —“जहां अग्निहोत्र एवं श्राद्ध की जाती है, जहां देवतायतन स्थित है, जिस घर में वेद-पाठ होता है, जहां गौर्वे रहती हैं, सोमपायी जहां निवास करते हैं, जिस स्थल पर अश्वत्थ उगा है, जहां पुराण का पारायण होता है, जहां अपना गुरु रहता है, जहां सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लड़का रहता है—वे सभी तीर्थ-भूमियां हैं।”

परिशिष्ट

* तीर्थ-तालिका

अञ्जक (न०)	अग्निस्त्यपद	अमरकहद
अचला ,,	अग्निशिरस्	अमरकरटक
अचलेश्वर	अग्नीशेश्वर	अमरकेश्वर (लि०)
अच्छोदा ,,	अग्नितीर्थ	आमर्दक (न्यो०)
अच्छोदक	अहः	अमरेश
अचिर-वती	अहल्याहद	अमरेश्वर
अच्युतस्थल	अहल्यातीर्थ	अम्बाजन्म
आदर्श	ऐलापत्र (नाग)	अम्बरीशेश्वर
आदिपाल (प०)	ऐरावती (न०)	अम्बिकातीर्थ
आदितीर्थ	अजबिल (प०)	अम्बिकावन
आदित्याश्रम	अजतुङ्ग	अस्तु (न०)
आदित्यतीर्थ	अजेश्वर (लि०)	अमोहक
आदित्यायतन	अजिरवती (न०)	आम्रातकेश्वर
आदित्येश	आकाश	अंशुमती
अगस्त्यपद	आकाशगङ्गा	आनन्द
अगस्त्यसर	आकाशलिङ्ग	आनन्दपुर
अगस्त्याश्रम	अक्रूर	अनन्त
अगस्त्यतीर्थ	अक्षुवाल	अनन्तभवन
अगस्त्यवट	अक्षय्यकरण	अनन्तनाग
अगस्त्येश्वर	अक्षय्यवट	अनन्तशयन
अधोशेश्वर	अलाबुतीर्थ	अनन्ततीर्थ
अग्निधारा	अलकनन्दा	अनरक
अग्निकुण्ड	अलेश्वर	अनरकेश्वर
अग्निप्रभ	अलितीर्थ	अनाशक
अग्निपुर	आमलक	अनसुयालिङ्ग
अग्निसर	आमलकग्राम	अन्ध (नद)

अन्धकेश
 अन्धोन
 अङ्गभूत
 अङ्गारकुरण्ड
 अङ्गारवाहिक
 अङ्गारेश्वर
 अङ्गारकेश्वर
 अङ्गारेश
 अङ्गारस-तीर्थ
 अङ्गारसेश
 अनितभा (न०)
 अञ्जलिकाश्रम
 अञ्जन (प०)
 अञ्जसी (न०)
 अङ्गोल
 अङ्गुशेखर
 अन्नकूट
 अन्तकेश्वर
 अन्तवेदी
 अन्तशिला (न०)
 अन्तिकेश्वर
 अनूपा (न०)
 अन्यतःप्लक्ष (पु०)
 आपाग (न०)
 आपांपपतन (न०)
 अपरनन्दा (न०)
 आपस्तम्बतीर्थ
 आपया (न०)
 अपसरस-कुरण्ड
 अप्सरेश
 अप्सरोगुगसङ्गम
 अरन्तुक
 अरविन्द (प०)
 अर्बुद (प०)
 अर्बुद-सरस्वती (न०)
 आर्चिक-पर्वत
 अर्धचन्द्र

अर्धकील
 अर्घ्यतीर्थ
 अरिष्टकुरण्ड
 आर्जीकीया (न०)
 अर्जुन
 अर्जुनीया (न०)
 अर्कक्षेत्र
 अर्कस्थल कुरण्ड
 आर्षभ
 आर्षिष्टेयणाश्रम
 अरुणासरस्वती सं०
 अरुण (प०)
 अरुणा (न०)
 अरुणा-वरुणा सं०
 अरुन्धतीवट
 अरुणीश
 आर्यावर्त
 आषाढ (लि०)
 आषाढी-तीर्थ
 आशालिङ्ग
 असि
 अभिवनी (न०)
 असिकुरण्ड
 असित (प०)
 असिता (न०)
 अभितगिरि
 अश्मन्वती (न०)
 अश्मपृष्ठ
 अशोक्तीर्थ
 अस्तमन
 अष्टवक्र
 अस्थिपुर
 असुरीश्वर
 अश्वमेध
 अश्वशिरस
 अश्वतीर्थ
 अश्वत्थतीर्थ

अश्विनी
 अश्विनोस्तीर्थ
 अश्वीश्वर
 अटवीतीर्थ
 अतिबल
 आत्मतीर्थ
 आत्रेयतीर्थ
 अत्रि-आश्रम
 अनीश्वर
 अट्टहास
 औद्दालकतीर्थ
 औद्यानकतीर्थ
 औजस
 औपमन्यव
 औसज
 औशनस
 औशीरपर्वत
 अवधूत
 अवकीर्ण
 अवन्ती
 अवटोदा (न०)
 अविघ्नतीर्थ
 अविमुक्त
 अविमुक्तेश्वर
 अयोध्या
 अयोगसिद्धि
 अयोनिसङ्गम
 बभ्रुतीर्थ
 बदरी
 बदरिका
 बदरिकाश्रम
 बदरीवन
 बदरीपाचनतीर्थ
 बगला (देवी)
 बाहुदा (न०)
 बहुलवन
 बहुनेत्र

बाह्या (न०)	भारभृती	विलपथ
बकुलासङ्गम	भरद्वाजाश्रम	विल्वाचल
बकुलवन	भरद्वाजतीर्थ	वित्त्रक
बलभद्रलिङ्ग	भरतस्याश्रम	वित्त्वपत्रक
बलाका	भरतेश	वित्त्ववन
बलाकेश्वर	भार्गवेश	विन्दुक
बालकेश्वर	भर्तृस्थान	विन्दुमाधव
बालपेन्द्र	भारूण्डवन	विन्दुसरस
बलेश्वर	भारुकच्छ	विन्दुतीर्थ
बलिकुण्ड	भस्मगात्रक	बोधितरू
बाणगङ्गा	भस्मकूटाद्रि	ब्रह्मगिरि
बाणतीर्थ	भास्कर-क्षेत्र	ब्रह्महृद
बाणेश्वर-लिङ्ग	भावतीर्थ	ब्रह्मक्षेत्र
बांजुल	मेढ्रादेवी	ब्रह्मकुण्ड
बाईस्पत्यतीर्थ	मेदगिरि	ब्रह्मनदी
भद्रा (न०)	मिलतीर्थ	ब्राह्मणकुण्डिका
भद्रदोह	भीमा (न०)	ब्रह्मणस्तीर्थ
भद्रकालेश्वर	भीमादेवी	ब्राह्मणी (न०)
भद्रकाली	भीमारथी	ब्राह्मणिका
भद्रकालीहृद	भीमस्वामिन	ब्रह्मानुस्वर
भद्रकर्णहृद	भीमतीर्थ	ब्रह्मपद
भद्रकर्णेश्वर	भीमायाःस्थानम्	ब्रह्मपुत्र
भद्रतीर्थ	भीमेश्वर	ब्रह्मसरस
भद्रतुङ्ग	भीष्मचण्डिका	ब्रह्मारण्य
भद्रवन	भोगवती	ब्रह्मशीर्ष
भद्रवट	भृगु	ब्रह्मस्थान
भद्रावती (न०)	भृगुकच्छ	ब्रह्मस्थूण
भद्रेश्वर	भृगुकुण्ड	ब्रह्मताम्रेश्वर
भगवत्पदी (ग०)	भृगुतीर्थ	ब्रह्मतीर्थ
भागीरथी	भृगुतुङ्ग	ब्रह्मतुङ्ग
भैरव	वृहस्पतिकुण्ड	ब्रह्मतुण्डहृद
भैरवेश्वर	भृङ्गीश्वरलिङ्ग	ब्रह्मवल्लीतीर्थ
भाण्डहृद	भूमिचण्डेश्वर	ब्रह्मवालुका
भाण्डीर	भूमितीर्थ	ब्रह्मावर्त
भाण्डीक	भूतालयतीर्थ	ब्रह्मथोनि
भङ्गतीर्थ	भृतेश्वर	ब्रह्मयूप
भानुतीर्थ	भुवनेश्वर	ब्रह्मेश्वरलिङ्ग
भारभूतेश्वर		

ब्रह्मोदर	चन्द्रेश्वर	दक्षिण-गोकर्ण
ब्रह्मोदय	चन्द्रिका (न०)	दक्षिण-मानस
ब्रह्मोद्भेद	चर्माख्य	दक्षिण-मथुरा
ब्रह्मोतुम्बर	चर्मखवती (न०)	दक्षिण-पञ्चनद
बृहद्वन	चर्मकोट	दक्षिण-प्रयाग
बुद्बुदा (न०)	चतुःसमुद्र (कूप)	दक्षिण-सिन्धु
बुधेश्वर	चतुःसामुद्रिक ”	दाल्भ्याश्रम
चैत्रक	चतुःस्रोत	दामिन्
चैत्ररथ (वन)	चतुर्मुख	दामोदरगङ्गा
चक्र	चतुर्थेश्वर	दांष्ट्राङ्कुर
चक्रधर	चतुर्वेश्वर	दण्ड
चक्रस्थित	छागलाण्ड	दण्डक
चक्रस्वामिन	छागलेश्वर	दण्डकारण्य
चक्रतीर्थ	छायाक्षेत्र	दण्डखाट
चक्रवाक	छिन्नपापक्षेत्र	दण्डीश्वर
चक्रावर्त	चिञ्चिकातीर्थ	दुर्दुर
चक्रेश्वर	चिदम्बर	दारुवन
चक्षु	चिन्ताङ्गेश्वर	दार्वीसंक्रमण
चक्षुस्तीर्थ	चिरमोचनतीर्थ	दशकन्यातीर्थ
चमसा	चिताभूमि	दशार्णा (न०)
चमत्कारपुर	चित्रगुप्तेश्वर	दशाश्वमेधिक
चम्पा	चित्रकूट	दत्तात्रेयलिङ्ग
चम्पकारण्य (चम्पारन)	चित्रकूटा (न०)	दौर्वासिक
चम्पकतीर्थ	चित्राङ्गतीर्थ	देवदारुवन
चम्पकवन	चित्राङ्गवदन	देवागम
चञ्चला (न०)	चित्रेश्वर	देवगिरि
चण्डवेगा (न०)	चित्रोपला ”	देवहृद्र
चण्डवेगासम्भेद	च्यवनाश्रम	देवहृदा (न०)
चण्डेश	च्यवनेश्वर	देवकूट (प०)
चण्डिकेश्वर	दधिक्षेत्र	देवलेखर
चन्द्रभागा	दधीचेश्वर	देवपर्वत
चन्द्रमरतीर्थ	दधिकर्णेश्वर	देवपथ
चन्द्रपाद	डाकिनी	देवप्रयाग
चन्द्रपुर	दक्षप्रयाग	देवारण्य
चन्द्रतीर्थ	दक्षतीर्थ	देवशाल
चन्द्रवशा (न०)	दक्षेश्वर	देवतीर्थ
चन्द्रवती (न०)	दक्षिणगङ्गा	देवेश

देवेश्वर	दीपेश्वर	गदाकुरड
देविका (नदी)	दीप्तोद	गदालोल
देवीकूट	दीर्घसत्र	गजाह्वय
देवीस्थान	दीर्घविष्णु	गजकर्ण
धनदेश्वर	दिवाकर-लिङ्ग	गजक्षेत्र
धनुःपात	दिवोकःपुष्करिणी	गजशैल
धन्वतीर्थ	द्रोण	गजसाह्वय
धान्यतीर्थ	द्रोणाश्रमपद	गजेश्वर
धारा ”	द्रोणेश्वर	गालव
धारणीतीर्थ	द्रोणी	गालवेश्वर
धागपतनकतीर्थ	द्रुमक्षेत्र	गल्लिका (न०)
धारातीर्थ	ध्रुवतपोवन	गम्भीरा ”
धमहृद	ध्रुवतीर्थ	गाणपत्यतीर्थ
धमनद	दृपद्वती	गणतीर्थ
धर्मपृष्ठ	द्रुमचण्डेश्वर	गरडकी
धर्मराजतीर्थ	दुग्धेश्वर	गङ्गा
धर्मरण्य	दुर्घरेश्वर	गङ्गाद्वार
धर्मशास्त्रेश्वर	दुर्गा	गन्धकाली
धर्मशिला	दुर्गाशाम्रमतीसं०	गन्धमादन
धर्मतीर्थ	दुर्गा (न०)	गन्धर्वकुरड
धर्मावती ”	दुर्गातीर्थ	गन्धर्वनगर
धर्मेश्वर	द्वादशादित्यकुरड	गन्धर्वतीर्थ
धर्मोद्भव	द्वारका	गङ्गागरडकीसङ्गम
धौतपाप	द्वारका कृष्णतीर्थ	गङ्गामोतीसङ्गम
धौतपापा	द्वारावती	गङ्गाहृद
धौतपापेश्वर (लिङ्ग)	द्विदेवकुल	गङ्गाकौशिकीसङ्गम
धवलेश्वर	द्वीप	गङ्गामानुषमङ्गम
धेनुक	द्वीपेश्वर	गङ्गावत्
धेनुकारण्य	एकधार	गङ्गासागरसङ्गम
धेनुवर	एकहंस	गङ्गासरस्वतीसङ्गम
ध्रुवतपोवन	एकाम्रक	गङ्गासरयूसंगम
धूमावली	एकवीर	गङ्गावदनसंगम
धुसिदविनायक	एलापुर (इलौरा)	गङ्गावरणसंगम
धूतपाप	एरगडीनर्मदसंगम	गंगेश्वर
धूतपापा (न०)	एरगडीतीर्थ	गङ्गोद्भेद
धूतवाहिनी ”	गभस्तीश	गर्गस्रोतस
दिरिडपुण्यक	गभीरक	गर्गेश्वर

गार्हपत्यपद	गोचर्मेश्वर	हनुमतीर्थ
गर्तेश्वर	गोदावरी	हारकुण्ड
गारुड	गोधन	हरमुकुट
गारुडकेश्वर	गोग्रह	हरमुण्ड
गौरी	गोकामुक	हरिद्वार
गौरीश	गोकर्ण	हरिहरक्षेत्र
गौरीशिखर	गोकर्णहृद	हरिकेश्वर
गौरीतीर्थ	गोकर्णेश्वर	हरिकेश्वर
गौतम	गोकुल	हरिश्चन्द्र (ती०)
गौतमनाग	गोमण्डलेश्वर	हरिश्चन्द्र (प०)
गौतमाश्रम	गोमन्त	हरिश्चन्द्रेश्वर
गौतमवन	गोमतो	हरिपर्वत
गौतमेश्वर	गोमतीगङ्गासंगम	हारीततीर्थ
गौतमी	गोपाद्रि	हारीतकीवन
गवांभवन	गोनिष्क्रमण	हरितेश्वर
गया	गोपीश्वर	हरियूपीया (न०)
गयाकेदारक	गोप्रचार	हरोद्भेद
गयानिष्क्रमण	गोप्रतार	हर्षपथा
गयाशिरस	गोप्रेक्ष	हस्ततीर्थ
गयाशीर्ष	गोप्रेक्षक	हस्तिनापुर
गयातीर्थ	गोप्रेक्षकेश्वर	हस्तिपादेश्वर
गायत्रीस्थान	गोरक्ष	हस्तिपालेश्वर
गायत्रीश्वर	गोरथगिरि	हाटक
गायत्रीतीर्थ	गोतीर्थ	हाटकेश्वर
घण्टाभरणक	गोवर्धन	हयमुक्ति
घण्टाकर्णहृद	गोविन्दतीर्थ	हयशीरस
घण्टेश्वर	गृध्रकूट	हयतीर्थ
घरघरा (न०)	गृध्रवन	हेमकूट
घटेश्वर	गृध्रवट	हेतुकेश्वर
घटोक्तच	गृध्रेश्वरलिङ्ग	हिमालय
घृतकुल्या	गुहेश्वर	हिमबल (अरयय)
गिरिकर्षिका	गुरुकुल्यतीर्थ	हिरण्यनाडु
गिरिकुञ्ज	हंसद्वार	हिरण्यविन्दु
गिरिकूट	हंसकुण्ड	हिरण्यद्वीप
गिरिनगर	हंसपद	हिरण्यगर्भ
गिरिब्रज	हंसप्रपतन	हिरण्यकशिपलिङ्ग
गोभिलेश्वर	हंसतीर्थ	हिरण्यनाडु

हिरण्यक्षेश्वर	जयगीषव्यगुहा	ज्योतिरथ्या
हिरण्यसङ्गम	जयगीषव्येश्वर	ज्योतिष्मती
हिरण्यबाहु	जाल	ज्योत्सना
हिरण्यवती	जलविन्दु	कबलिङ्ग
ह्लादिनी	जालन्धर	कडलीनदी
होमवती	जालेश्वर	कदम्ब
हृषीकेश	जलपिशा	कदम्बखण्ड
इक्षु	जामदगन्यतीर्थ	कदम्बेश्वर
इक्षुमती	जम्बीरचम्पक	काद्रवती
इक्षु (नर्मदा सङ्गम)	जम्बुकेश्वर	कैलापुर
इक्षुदा (नं०)	जम्बुला	कैलासशिखर
इलासपद	जम्बूमार्ग	काकाहृद
इलातीर्थ	जम्बूनदी	काकाशिला
इल्वलपुर	जनककूप	काकुभ
इन्दिरा (न०)	जनकेश्वर	ककुदमती (न०)
इन्द्रध्वज	जनस्थान	कालभैरव
इन्द्रद्युम्नसरस	जनेश्वर	कालकवन
इन्द्रद्युम्नेश्वर	जन्मेश्वर	कालकेश्वर
इन्द्रग्रामतीर्थ	जाप्येश्वर	कालकोट
इन्द्रकीला	जरासन्धेश्वर	कसञ्जर
इन्द्रलोक	जटाकुण्ड	कालिञ्जर
इन्द्रमार्ग	जातिस्मरहृद	कलञ्जरवन
इन्द्रनदी	जयन्त	कलापग्राम
इन्द्राणीतीर्थ	जयन्तिका	कलापक
इन्द्रप्रस्थ	जयपुर	कलापवन
इन्द्रतीर्थ	जयातीर्थ	कलशाख्यतीर्थ
इन्द्रतोया (न०)	जयवन	कालसर्पिस
इन्द्रेश्वर	जयिनी	कलशेश्वर
इरावती (रावी०)	ज्येष्ठिला	कालतीर्थ
इरावती (नद्वलासंगम)	ज्ञानतीर्थ	कालविक
ईशानाध्युषित	ज्ञानवापी	कालविमल
ईशानलिङ्ग	ज्वालामुखी	कालेश
ईशानशिखर	ज्वालासरस	कालेश्वर
ईशतीर्थ	ज्वालेश्वर	कालीहृद
जगन्नाथ	ज्येष्ठेश्वर	काली
जाह्नवी	ज्येष्ठपुष्कर	कालिका
जान्हृहृद	ज्येष्ठस्थान	कालिकासंगम

कालिकाशिखर	कनकन दा (न०)	कापोतकतीर्थ
कालिकाश्रम	कनकवाहिनी (न०)	कपोतेश्वर
कालिन्दी	कनकेश्वर	करहाटक
कालीयहृद	कनखल	कारन्धम
कल्लोत्रेश्वर	काञ्चनाक्षी (न०)	करञ्जतीर्थ
कलमापी	काञ्ची	कारन्तुक
कालोदक (पु०)	कान्तीपुरी	करपाद
कालोदका (न०)	कण्वाश्रम	कमूपवन
कल्पग्राम	कन्या	करतोया
काम	कन्याहृद	कारवती
कामधेनुपद	कान्यकुब्ज	करवीरा
कामगिरि	कन्याकूप	करवीरक-तीर्थ
कामाख्य	कन्यासम्बेद्य	कर्दमाल
कामकोष्ठक	कन्याश्रम	कर्दमाश्रम
कामाक्षा	कन्यातीर्थ	कर्दमिल
कामाक्षी	कपालमोचनतीर्थ	कर्कन्ध
कमलाक्ष	कपालेश्वर	कर्कोटकेश्वर
कमलालय	कपर्दीश्वर	कर्माविरोहण
कामतीर्थ	कपर्देश्वर	कर्मेंश्वर
कम्बलाश्वतरौ नागौ	कापिल	कर्णहृद
कम्बलाश्वतराक्ष	कपिला	कर्णप्रयाग
कम्बोतिकेश्वर	कपिलाधारा	कार्तिवेय
कम्बुतीर्थ	कापिलद्वीप	कार्तिकेयकुण्ड
कामेश्वरलिङ्ग	कपिलहृद	कार्तिकेयपद
कामेश्वरपीठ	कपिलनागराज	काशी
कामिक	कपिलासङ्गम	काश्मीरमण्डल *
कामोदापुर	कपिलतीर्थ	काश्यपपद
कम्पना (न०)	कपिलातीर्थ	काश्यपतीर्थ
काम्यकाश्रम	कपिलवट	काश्यपेश्वर
काम्यकसरस	कपिलेशलिङ्ग	कठेश्वर
काम्यकवन	कपिलेश्वरलिङ्ग	कात्यायनेश्वर
कर्णादेश्वर	कपिशा	कौवेर
कनका (न०)	कापिशी (न०)	कौवेरतीर्थ
कनक	कापोत	कौमारतीर्थ

* टि०—अनुक्तफजल ने अपनी 'आइने अकबरी' में लिखा है : उनके समय में काश्मीर में ४५ शिवालय, ६४ विष्णु-प्रासाद, ३ ब्रह्मायतन, २२ दुर्गामन्दिर थे और ७०० स्थानों पर शार्कर नाग-प्रतिमाएँ थीं जिनकी भी पूजा-परम्परा पूर्णरूप से प्रचलित थी।

कौनट
 कौण्डिन्यसरस
 कौशाम्बी
 कौशिकहृद
 कौशिकी (न०)
 कौ० कोकासङ्गम
 कौशिकी सं०
 कौशिकीतीर्थ
 कौशिक्यारुणी सं०
 कौस्तुभेश्वर
 कावेरी
 कावेरीसङ्गम
 कायशोधन
 कायावरोहण
 केदार
 केशव
 केशिनीतीर्थ
 केशीतीर्थ
 केतकीवन
 केतुमाला
 खड्गधारतीर्थ
 खड्गपुच्छनाग
 खड्गतीर्थ
 खदिरवन
 खण्डतीर्थ
 खाण्डवन
 खाण्डवप्रस्थ
 खट्वाङ्गेश्वर
 खोनमुष
 किल्किलेश
 किंदत्तकूप
 किंशुकवन
 किंशुलूक (प०)
 कियञ्ज
 किंदान
 किंकिणीकाश्रम
 किरणा (न०)

किरणेश्वरलिङ्ग
 किष्किन्धा
 किष्किन्धागुहा
 किष्किन्धपर्वत
 कोका (न०)
 कोकामुख
 कोकिल
 कोलःहल
 कोलापुर
 कोल्ल
 कोल्लगिरि
 काणोक
 केशला (न०)
 कोटरतीर्थ
 कोटरावन
 कोटिकेश्वर
 कोटीश्वर
 कोटीतीर्थ
 कोटिवट
 क्रमसार (पु०)
 क्रतुतीर्थ
 क्रौञ्चपाद
 क्रौञ्चपदी
 क्रौञ्चपर्वत
 क्रौञ्चारण्य
 क्रिया (न०)
 कृकलासतीर्थ
 कृमिचण्डेश्वर
 कृपा (न०)
 कृपाणीतीर्थ
 कृष्णा
 कृष्णागङ्गा
 कृष्णागङ्गोद्भवतीर्थ
 कृष्णगिरि
 कृष्णातीर्थ
 कृष्णावेणा
 कृष्णवेण्या

कृष्णवेनी
 कृतमाला (न०)
 कृतशौच
 कृत्तिकाङ्गारक
 कृत्तिकाश्रम
 कृत्तिकातीर्थ
 कृत्तिवास
 कृत्तिवागेश्वरलिङ्ग
 क्रुमु (न०)
 क्षमा ,,
 क्षमेश्वर
 क्षिप्रा (न०)
 क्षीरवती ,,
 क्षीरिका
 क्षुधातीर्थ
 कुवेरतुङ्ग
 कुभा
 कुञ्जक
 कुञ्जाम्रक
 कुञ्जासंगम
 कुञ्जाश्रम
 कुञ्जावन
 कुञ्जकापीठ
 कुड्मला
 कुहू
 कुकुटेश्वर
 कुलम्पुन
 कुलेश्वर
 कुलिशी (न०)
 कुल्या (न०)
 कुमार
 कुमारधारा
 कुमारकोटी
 कुमारतीर्थ
 कुमारेश्वरलिङ्ग
 कुमारी
 कुमारिल

कुम्भ	ललितक	मधुवती
कुम्भकर्णाश्रम	लाङ्गलतीर्थ	मध्वतीर्थ
कुम्भकोण	लाङ्गलि-लिङ्ग	मधुविला (न०)
कुम्भीश्वर	लाङ्गलिनी (न०)	मध्यमपुष्कर
कुमुदाकर	लौहित्य	मध्यमेश्वरलिङ्ग
कुमुद्रती (न०)	लौकिक	मध्यंनदिनीयकतीर्थ
कुण्डलेश्वर	लवणा	मदोत्कट
कुन्दवन	लवणकतीर्थ	मद्रा
कुण्डेश्वर	लाविडिका	मद्रवा (प०)
कुण्डिन	लिङ्गसार	मागधारगय
कुण्डप्रभ	लिङ्गजनार्दन	महाबल
कुण्डोद (प०)	लोहदण्ड	महाभैरव
कुञ्जतीर्थ	लोहजंघवन	महावोधितरु
कुरङ्ग	लोहकूट	महागङ्गा
कुरूजाङ्गल	लोहागल	महागौरी
कुरूजाङ्गलारगय	लोहित	महाहृद
कुरुक्षेत्र	लोहितगङ्गक	महाकाल
कुशप्लवन	लोकपाल	महाकालवन
कुशस्तम्भ	लोकपालेश्वर	महाकाशी
कुशस्थल	लोकोद्धार	महाकूट
कुशस्थली	लोलाक	महालक्ष्मेश्वर
कुशतर्पण	लोणारकुण्ड	महालय
कुशतीर्थ	माडवावर्तनाग	महालयकूप
कुशावर्त	माधवतीर्थ	महालयलिङ्ग
कुशावती	माधववन	महालिङ्ग
कुशेशय	मधूदका (न०)	महामुण्डा
कुशिकाश्रम	मधुकैटभलिङ्ग	महामुण्डेश्वर
कुशीवट	मधूकवन	महानाद
कूष्माण्डेश्वर	मधुकुल्या	महानदी (न०)
कुसुमेश्वर	मधुमती (न०)	महानल (लि०)
कुटक	मधुनन्दिनी (न०)	महानन्दा
कुटशिला	मधुपुर	महापद्मनाग
लक्ष्मणाञ्जल	मधुपुरी	महापाशुपतेश्वर
लक्ष्मणतीर्थ	मधुरा	महापुर
लक्ष्मणेश्वर	मधुरातीर्थ	महारुद्र
लक्ष्मीतीर्थ	मधुश्रवा	महाशाल
ललिता	मधुवन	महाशालनदी

महासरस
 महास्थल
 महाश्रम
 महाशोण
 महत्कुरण्ड
 महती
 महावन
 महातीर्थ
 महावेणा
 महेन्द्र
 माहेश्वरपुर
 माहेश्वर
 महेश्वरधारा
 महेश्वरकुरण्ड
 मही
 महीसागर-सङ्गम
 माहीतीर्थ
 माहिष्मती
 महोदय
 मैनाक (प०)
 मैत्रेयीलिङ्ग
 मक्रुणा (न०)
 माला (न०)
 मलद
 मलन्दरा (न०)
 मलप्रहारिणी (न०)
 (मलापहारिणी)
 मलापहा (न०)
 मालार्क
 मलय (प०)
 मलयज
 मलयार्जुनक
 मालिनी (न०)
 मल्लक
 मल्लिकाख्य
 मल्लिकार्जुनक
 मल्लिकेश्वर

माल्यवत
 माल्यवती
 मानस
 मन्दगा (न०)
 मन्दाकिनी (न०)
 मन्डलेश्वर
 मन्दर (प०)
 मन्दार
 मण्डवा
 मन्दवाहिनी
 मण्डव्य
 मण्डव्येश
 मण्डोदरीतीर्थ
 मंगला
 मंगलाप्रस्थ
 मंगलासङ्गम
 मङ्गलेश्वर
 मणिकर्ण (मणिकर्णिका)
 मणिकर्णेश्वर
 मणिकुरण्ड
 मणिकेश्वर
 मणिमत
 मणिमती
 मणिमतीहृद
 मणिमतीपुरी
 मणिनाग
 मणिपूरगिरि
 मंजुला
 मंजुणिका
 मंजुटी
 मनोहर
 मनोजव
 मन्त्रेश्वर
 मनुजेश्वर
 मनुलिङ्ग
 मानुष
 मन्युतीर्थ

मारीचेश्वर
 मार्जार
 मार्कण्डेयहृद
 मार्कण्डेयतीर्थ
 मार्कण्डेयेश्वर
 मर्कटीतीर्थ
 मारतरण्ड
 मारतरण्डपादमूल
 मरुद्गण
 मरुद्वृषा
 मरुस्थल, मारुतालय
 मासेश्वर, मातलीश्वर
 मातङ्गक्षेत्र
 मतङ्गपद
 मतंगस्याश्रम
 मतङ्गस्य-केदार
 मतङ्गवापी
 मतंगेश
 मतंगेश्वर
 गाठरवन
 मथुरा
 मातृ
 मातृग्रह
 मातृतीर्थ
 मत्स्यनदी
 मत्स्यशिला
 मत्स्योदपान
 मत्स्योदरी
 मायापुरी
 मायातीर्थ
 मेधातिथि (न०)
 मेधावन, मेधाविक
 मेघकर
 मेघनाद
 मेघङ्कर
 मेघराव
 मेहन्तु (न०)

मेकल	नाभि	नन्दीश
मेकला (न०)	नङ्गितका	नन्दीशेश्वर
मेकला (प्रदेश)	नादेश्वर	नन्दीतट
मेखला	नदीश्वर	नन्दितीर्थ
मेरुकूट	नग	नारदकुण्ड
मेरुवर	नागधन्वन	नारदतीर्थ
मीनाक्षी	नागकूट	नारदेश्वर
मिरिकावन	नागपुर	नरक
मिश्रक	नागसाहय	नरक (नार्मद)
मित्रपद	नागतीर्थ	नारसिंह
मित्रवन	नागेश्वर	नरसिंहाश्रम
मित्रावरुण	नागोद्भेद	नारसिंहतीर्थ
मित्रावरुणाराश्रम	नहुपेश्वर	नारायणसरस
मोदागिरि	नैमिष (अरण्य)	नारायणाश्रम
मोक्षकेश्वर	नैमिष-कुञ्ज	नारायणस्थान
मोक्षराज	नैऋत्येश्वर	नारायणतीर्थ
मोक्षतीर्थ	नकुलगण	नारीतीर्थानि
मोक्षकेश्वर	नाकुलेशतीर्थ	नर्मदा
मृगधूम	नकुली	नर्मदाप्रभव
मृगकामा	नकुलीश	नर्मदेश
मृगशृंगोदक	नकुलीश्वर	नर्मदेश्वर
मृत्युञ्जय	नलकूवरीश्वर	नासित्रय
मुचुकुन्द	नलिनी	नौबन्धन
मुचुकुन्देश्वर	नन्दा	नौबन्धनसरस
मुक्तिक्षेत्र	नन्दना	नेपाल
मुक्तिमत	नन्दनवन	निगमोद्भोधक
मुक्तिस्थान	नन्दासरस्वती	निक्षीरा
मुकुटा (न०)	नन्दावरी (न०)	निक्षीरासङ्गम
मूलस्थान	नन्दिग्राम	नीलाचल (प०)
मूलतापी	नन्दिगुहा	नीलगङ्गा
मूली (न०)	नन्दिक्षेत्र	नीलकण्ठलिङ्ग
मुण्डपृष्ठ	नन्दिकेश	नीलकण्ठतीर्थ
मुण्डेश	नन्दिकुण्ड	नीलकुण्ड
मूजवत्	नन्दिकूट	नीलनाग
मुञ्जवत्	नन्दिनी (न०)	नीलपर्वत
मुञ्जवट	नन्दिनी-सङ्गम	नीलतीर्थ
मुर्मुरा	नन्दिपर्वत	नीलवन

नीलोत्पला
 निम्नः कर्तीर्थ
 निम्नभेद
 नीराजेश्वर
 निरञ्जन
 निरञ्जना
 निरविन्दपर्वत
 निर्जरेश्वर
 निर्विन्ध्या
 निर्वीरा (न०)
 निषध
 निषधा
 निशाकारलिङ्ग
 निश्रीरा
 निष्फलेश
 निष्ठासंगम
 निष्ठावास
 निष्ठीवी
 निवासलिंग
 नूपा
 श्रोत्रवती
 श्रोजस
 श्रोकार
 श्रोकारेश्वर
 पद्मावती
 पेशाचतीर्थ
 पितामहतीर्थ
 पालमञ्जर
 पालपञ्जर
 पलाशक
 पलाशिनी
 पालेश्वर
 पम्पा (न०)
 पम्पा (कुरु०)
 पम्पासरस
 पम्पातीर्थ
 पञ्चब्रह्म

पञ्चगंगा
 पञ्चकेश्वर, पञ्चालकेश्वर
 पञ्चकुण्ड
 पञ्चनदतीर्थ
 पञ्चनदी
 पञ्चनदीश्वर
 पञ्चपिरड
 पञ्चप्रयाग
 पञ्चाप्सरसतीर्थ
 पञ्चारूपक्षेत्र
 पञ्चसरस
 पञ्चशिखा
 पञ्चशिखेश्वर
 पञ्चशिर
 पञ्चाश्वमेधिक
 पञ्चतप
 पञ्चतीर्थ
 पञ्चतीर्थकुण्ड
 पञ्चवन
 पञ्चवट
 पञ्चवटी
 पञ्चयज्ञा
 पञ्चायतन
 पराडारकवन
 पराडवेश्वरक
 पराडुकूप
 पराडुपुर
 पराडुक
 पराडीसह्य
 पराडुविशालातीर्थ
 पाणिख्यात
 पङ्कजवन
 पापमोक्ष
 पापप्रमोचन
 पापप्रणाशन
 पापसूदनतीर्थ
 पारा

परिहासपुर
 पाराशर्येश्वरलिङ्ग
 पारिपल्व
 पारियात्र
 पार्याशा, पर्जन्येश्वर
 परूष्णी
 परूष्णीसंगम
 पर्वताख्य
 पर्वतेश्वर
 पार्वतिक
 पाशा
 पाषाणतीर्थ
 पाशिणी
 पाशुपततीर्थ
 पाशुपतेश्वर
 पशुपतीश्वर
 पाटला
 पातन्धम
 पतत्रितीर्थ
 पथीश्वर
 पत्रेश्वर
 पौलस्त्यतीर्थ
 पौलोम
 पौरण्डरीक
 पौरण्ड्र
 पौरण्ड्रवर्धन
 पौष्क
 पवनस्यहृद्
 पावनी
 पयस्विनी
 पयोदा
 पयोष्णी
 पयोष्णीसंगम
 फलकीवन
 फल्गु
 फाल्गुन
 फाल्गुनक

फाल्गुनेश्वर
 फेना (न०)
 फेनासंगम
 पिरडारक
 पिङ्गायाः आश्रम
 पिङ्गातीर्थ
 पिङ्गलेश्वर
 पिप्पला
 पिप्पलादतीर्थ
 पिप्पलतीर्थ
 पिप्पलेश
 पिप्पली (न०)
 पिशाचेश्वर
 पिशाचमोचनकुण्ड
 पिशाचमोचनतीर्थ
 पिशाचिका
 पितामहसरस
 पितामहतीर्थ
 पीठानि (५१)
 सन्ना
 प्रक्षवण
 सन्नातीर्थ
 सन्नावतरण
 प्रभास
 प्राचीसरस्वती
 प्रद्युम्नगिरि
 प्रद्युम्नतीर्थ
 प्रहसितेश्वर
 प्रह्लादेश्वर
 प्रजामुख
 प्रजापतिक्षेत्र
 प्राजापत्य
 प्रणीता
 प्रान्तकपर्नाथ
 प्रापण
 प्रश्रवणगिरि
 प्रतीची

प्रतिष्ठान
 प्रवर
 प्रवरपुर
 प्रवरासंगम
 प्रयाग
 प्रयागेश्वर
 प्रेतकूण्ड
 प्रेतकूट
 प्रेतपर्वत
 प्रेतशिला
 प्रीतिकेश्वर
 प्रियमेलक
 प्रियवतेश्वरलिङ्ग
 पृथिवीतीर्थ
 पृथूदक
 पृथुतुङ्ग
 पुलहाश्रम
 पुलस्त्यपुलहाश्रम
 पुलस्त्येश्वर
 पुनःपुना (न०)
 पुनरावर्तनन्दा (न०)
 पुण्डरीक
 पुण्डरीका (न०)
 पुण्डरीकक्षेत्र
 पुण्डरीकमहातीर्थ
 पुण्डरीकपुर
 पुण्यस्थल
 पुराणेश्वर
 पूर्ण
 पूर्णमुख
 पूर्णतीर्थ
 पुरू
 पुरूर्वसतीर्थ
 पुरूषोत्तम
 पूर्वामुख
 पुष्कर
 पुष्करारण्य

पुष्करावती (न०)
 पुष्करिणी
 पुष्पभद्रा (न०)
 पुष्पगिरि
 पुष्पजा (न०)
 पुष्पदन्तेश्वर
 पुष्पस्थल
 पुष्पवहा (न०)
 पुष्पवती (न०)
 पुत्रतीर्थ
 राधाकुण्ड
 राघवेश्वर
 रैवतक
 राजगृह
 राजखड्ग
 राजावास
 राजेश्वर
 रामाधिवास
 रामगिर्याश्रम
 रामगृह
 रामहृद
 रामजन्म
 रामलिङ्ग
 रामसरस
 रामतीर्थ
 रम्भालिङ्ग
 रम्भेश्वरलिङ्ग
 रामेश्वर
 रत्नेश्वरलिङ्ग
 रन्तुक
 रन्तुकाश्रम
 रसा (न०)
 रथचैत्रक
 रथस्था (न०)
 रावणेश्वरतीर्थ
 रविस्तव
 रेणुकास्थान

रेणुकाष्टक
 रेणुकातीर्थ
 रेतोदक
 रेवा
 रेवन्तेश्वर
 रेवतीसङ्गम
 ऋक्ष, ऋक्षवत्
 ऋणमोचन
 ऋणमोक्ष
 ऋणान्तकूप
 ऋणतीर्थ
 रोधस्वती (न०)
 रोहितक (प०)
 ऋषभ
 ऋषभा (न०)
 ऋषभद्वीप
 ऋषभतीर्थ
 ऋषभाञ्जकतीर्थ
 (उषातीर्थ)
 ऋषोका (न०)
 ऋषिकन्या (न०)
 ऋषिकुल्या (न०)
 ऋषिसंवेश्वर
 ऋषिसत्र
 ऋष्यमूक
 ऋषितीर्थ
 ऋष्यभृङ्गेश्वर
 ऋष्यवन्त (प०)
 रुचिकेश्वरक
 रुद्रगया
 रुद्रकन्या
 रुद्रकर
 रुद्रकर्ण
 रुद्रकर्णहृद्
 रुद्रकोटी
 रुद्रमहालय
 रुद्रमहालयतीर्थ

रुद्रपद
 रुद्रप्रयाग
 रुद्रावर्त
 रुद्रवास
 रुक्मिणीकुण्ड
 रूपधारा
 रुरुखण्ड
 शवरीतीर्थ
 शाभ्रमती
 (सावरमती)
 शाभ्रमतीसङ्गम
 शचीश्वरलिंग
 पडंगुल
 सदानीरा (न०)
 सगरेश्वर
 साहस्रकतीर्थ
 सहस्राक्ष
 सहस्रकुण्ड
 सह्याद्रि
 सह्यामलक
 सह्यारण्य
 शैलेश्वर
 शैलेश्वराश्रम
 शैलोद
 शैलोदा
 सन्धवारण्य
 शाकम्भरी (पु०)
 साकेत
 शक्रकुण्ड
 शक्रसरस
 शक्रतीर्थ
 शक्रावर्त
 शक्रेश्वर
 शालग्राम
 शालिग्राम
 शालग्रामगिरि
 शालकटयकटेश्वर

शालिसूर्य
 शालुकिनी
 शाल्विकिनी
 सामलनाथ
 समझा (न०)
 समन्तपञ्चक
 समस्रोत
 साम्भपुर
 सम्भलग्राम
 सम्भूर्तिक
 सम्पीठक
 संसारमोचन
 सामुद्रक
 समुद्रकूप, समुद्रतीर्थ
 समुद्रेश्वर
 सम्वर्तक
 सम्वर्तवापी
 सम्वर्तेश्वर
 सम्बिद्यतीर्थ
 संयमन
 शनैश्वरेश्वर
 सनक
 सनकेश्वर
 सनन्देश्वर
 सानन्दूर
 सनत्कुमारेश्वर
 सन्ध्या
 सन्ध्यावट
 शाण्डिली (न०)
 शा-मधुमती-सं०
 शाण्डिल्येश्वर
 सङ्गमन
 सङ्गमनगर
 सङ्गमेश्वर
 शंखहृद्
 शंखलिखितेश्वर
 शंखप्रभ

शंखतीर्थ	सरस्वती-सागर-सं०	सिद्धकेश्वर
शंखिणीतीर्थ	शरावती	सिद्धपद
शंखोद्धार	सरयू	सिद्धपुर
शंकुकर्ण	शार्दूल	सिद्धतीर्थ
शंकुकर्णेश्वर	मर्गविन्दु	सिद्धवन
शंकुणिका	सर्करावर्ता (न०)	सिद्धवट
सन्निहिता	सर्वहृद	सिद्धेश्वर (लि०)
सन्निहती	मवतीथे	सिद्धेश्वर
सन्निह्यसरस	सर्वतीर्थेश्वर	सिद्धिकूट
मन्नीति	सर्वात्मक	शिखितीर्थ
यान्तेश्वर	मर्वायुध	शिलातीर्थ
सप्तचरुतीर्थ	शशाकेश्वर	शिलाक्षेत्र
सप्तधारा	शशयान	सिंह
सप्तगङ्गा	षष्टिहृद	सिन्धु
सप्तगोदावर	शतद्रु	सिन्धुप्रभव
सप्तनद	शतकुम्भा	सिन्धुसागर
सप्तकोटीश्वर	शतरुद्रा	सिन्धुसागरसंगम
सप्तपुष्करिणी	शतसहस्रक	सिन्धूत्तम
सप्तार्ण	शतशृङ्ग	शिफा (न०)
सप्तर्षिकुण्ड	शातातपेश्वर	शिप्रा (न०)
सप्तसागरलिङ्ग	शक्तिकतीर्थ	सिता (न०)
सप्तसामुद्रक	सत्यवती	सितातीर्थ
सप्तसामुद्रक-कूप	सौभद्रा	सीतवन
सप्तसारस्वत	सौकर्य	शिवघार
सप्तवती	शौर्पारक	शिवहृद
शारभंगकुण्ड	सौगन्धिकगिरि	शिवकाञ्ची
शारभंगाश्रम	सौगन्धिकवन	शिवनदी
शारविन्दु	सौमित्रिहंगम	शिवसरस्वती
शारदातीर्थ	शौनकेश्वरकुण्ड	शिवोद्भेद
सरक	शार्वाणीश्वर	स्कन्दतीर्थ
सरस्तम्भ	सावित्रपद	स्कन्देश्वर
सारस्वत	सावित्री (न०)	श्लेष्मान्तकवन
सारस्वतलिंग	सावित्रीश्वर	श्मशान
सारस्वततीर्थ	सावित्रीतीर्थ	श्मशानस्तम्भ
सरस्वती	शेषतीर्थ	स्नानकुण्ड
सरस्वती-अरुणा-सं०	सेतु	सोदरनाग
सरस्वतीपतन	सेतुबन्ध	सोमकुण्ड

सोमनाथ	सुभद्रासिन्धु-संगम	शुष्कनदी
सोमपद	सुभूमिक	शुष्केश्वर
सोमपान	सुचक्र	सुषोमा
सोमाश्रम	शुद्धेश्वर	सुपुम्ना
सोमतीर्थ	सुदिन	सुतीक्ष्णाश्रम
सोमेश	सुगन्ध	सुतीर्थक
सोमेश्वर	सुगन्धा	शुतुद्री
सोण	सुग्रीवेश्वर	सुवर्ण
सोण-ज्योतिरथ्या-सं०	शुकतीर्थ	सुवर्णान्न
सोमप्रभेद	शुकाश्रम	सुवर्णरेखा (न०)
शोणितपुर	शुकेश्वर	सुवर्णसिकता
श्रावस्ती	शुक्लतीर्थ	सुवर्णतिलक
श्रीक्षेत्र	शुकतीर्थ	सुवास्तु
श्रीकुण्ड	शुकेश्वर	सुवर्तस्याश्रम
श्रीकुञ्ज	शुक्तिमत्	स्वच्छोद (पु०)
श्रीमादक	शुक्तिमती	स्वच्छोदा (न०)
श्रीमुखी	सुकुमारी	स्वामितोर्थ
श्रीनगर	शलभेद	स्वर्गविन्दु
शृङ्गाटकेश्वर	शलघाट	स्वर्गद्वार
शृङ्गतीर्थ	शल्लेश्वर	स्वर्गमार्गहृद्
शृङ्गवेरपुर	शुमन्तु-लिङ्ग	स्वर्गमार्गपद
शृपा (न०)	सुनन्दा	स्वर्गतीर्थ
श्रीपर्णा	सुन्दरीका	स्वर्गेश्वर
श्रीपर्वत	सुन्दरीकाहृद्	स्वर्लिङ्गेश्वर
श्रीपतितीर्थ	सुन्दरीकातीर्थ	स्वर्णविन्दु
श्रीरंग	शुषिडका	स्वर्णलोमापनयन
श्रीतीर्थ	सुनील	स्वर्णरेखा (न०)
स्तम्भतीर्थ	सुपर्णा	स्वर्णवेदी "
स्तम्भाख्यतीर्थ	सुपार्श्व	स्वस्तपुर
स्तम्भेश्वर	सुप्रयोगा	स्वतन्त्रेश्वर
स्तनकुण्ड	सुरभिवन	स्वयम्भूतीर्थ
स्थलेश्वर	सुरभिकेश्वर	श्वावल्लोमापह
स्थानेश्वर (लि०)	सुरसा	श्वेता
स्थानेश्वर	सुरेश्वरीक्षेत्र	श्वेताद्रि
स्थाणुतीर्थ	शुपर्करतीर्थ	श्वेतद्वीप
स्त्रीतीर्थ	सूर्यतीर्थ	श्वेतमाधव
स्तुतस्वामी	सुसतु (न०)	श्वेततीर्थ

श्वेतयावरी (न०)	त्रिदिवा	तङ्गेश्वर
श्वेतेश्वरा	त्रिदिवावाला (न०)	तुरासङ्ग
श्वेती	त्रिगङ्गा	त्वष्ट्रेश्वर
श्वेतोद्भव	त्रिगतेश्वर	उद्गाण्ड
स्यन्दिक (न०)	त्रिहलिकाग्राम	उदपान
श्यामाश्रम	त्रिजलेश्वरलिङ्ग	उद्यन्त
श्येनी	त्रिककुट्ट	उद्दालकेश्वर
तेजस	त्रिकोटि	उद्भ्रियान
तक्षशिला	त्रिकूट	उदीचीतीर्थ
तक्षकनाग	त्रिलिङ्ग	उद्यन्तपर्वत
तालकर्णेश्वर	त्रिलोचनलिङ्ग	उग्र
तालतीर्थ	त्रिपदी (तिरूपती)	उग्रेश्वर
तालवन	त्रिपलक्ष	उजानक
तमसा	त्रिपुर	उजयन्त
ताम्रपर्णी	त्रिपुरान्तक	उजयिनी
ताम्रप्रभ	त्रिपुरेश्वर	उमाहक
ताम्रारूण	त्रिपुरी	उमाकुण्ड
ताम्रवती	त्रिपुष्कर	उमातुङ्ग
तण्डुलिकाश्रम	त्रिसामा	उमावन
तापसेश्वर	त्रिसन्ध्या	उपजला (न०)
तापसतीर्थ	त्रिस्थान	उपमन्युलिङ्ग
तापती	त्रिशिखर	उपशान्तशिव
तापेश्वर	त्रिशूलगङ्गा	उपवेणा (न०)
तापी	त्रिशूलखाट	उर्जन्त
तापिका	त्रिशूलपात	ऊर्जयत्
तापी-समुद्र-सं०	त्रितकूप	ऊर्वशीकुण्ड
तपोवन	त्रिवेणी	ऊर्वशीलिङ्ग
तारकेश्वर	त्रिविष्टप	ऊर्वशीपुलिन
तरण्ड	तृणविन्दुसरस	ऊर्वशीश्वर
तिमि	तृणविन्दुवन	ऊर्वशीतीर्थ
तीर्थकोटि	त्र्यम्बकेश्वर	उष्णतीर्थ
तोषलक	तुलजापुर	उष्णीगङ्गा
तोया	तुङ्गा (न०)	उत्कोचकतीर्थ
त्रैयम्बकतीर्थ	तुङ्गभद्रा	उत्पलवन
त्रस्तावतार	तुङ्गकूट	उत्पलावर्तक
तीरभागा	तुङ्गारण्य	उत्पलावती (न०)
त्रिदिशब्धोति	तुङ्गवेणा	उत्पलिनी „

उत्पातक	वाल्मीकि-आश्रम	वशिष्टापवाह
उत्तमेश्वर	वामनक	वशिष्टाश्रम
उत्तर	वामनेश्वर	वशिष्टतीर्थ
उत्तरगङ्गा	वंशधरा (न०)	वशिष्टेश
उत्तरगोकर्ण	वंशगुल्म	वाशिष्टी
उत्तरजाह्नवी	वंशमूलक	वसोर्धारा
उत्तरमानस	वंशोद्भेद	वस्त्रापथक्षेत्र
वङ्गवा	वानरक	वासुक
वधूसरा	वन्दना (न०)	वासुकीश्वर
वागीश्वरी	वाणी-सङ्गम	वासुकित्तीर्थ
वाग्मती (न०)	वज्ररा	वासुप्रद
वा-मणिभती-संगम	वज्ररा-सङ्गम	वसुतुङ्ग
वाहा	वंशुला	वट
वाहिनी	वंक्षु	वटनदी
वैदर्भा	वरदा	वटेश्वर
वैदूर्या	वरदान	वाटेश्वर
वैद्यनाथ	वरदा-सङ्गम	वाटेश्वरपुर
वैहार	वराहमूलक्षेत्र	वातिक
वैहायसी	वराहपर्वत	वातोदका (न०)
वैजयन्त	वराहस्थानानि	वत्सक्रीडनक
वैकुण्ठकर्ण	वराहतीर्थ	वायव्यतीर्थ
वैकुण्ठतीर्थ	वराहेश्वर	वायुतीर्थ
वेमानिक	वरणा (न०)	वेदधार
वैनायकतीर्थ	वाराणसी	वेदगिरि
वैरा	वरणावती (न०)	वेदशिरस
वैरोचनेश्वर	वारणेश्वर	वेदस्मृति (न०)
वैशाख	वर्धनद्रुम	वेदश्रुति ”
वैश्रवणेश्वर	वारिधार	वेदवती ”
वैश्वानरकुण्ड	वर्णाशा (न०)	वेदेश्वर
वैतरणी	वर्णु ”	वेदित्तीर्थ
वैवश्वततीर्थ	वार्तन्नी	वेगवती
वैवस्वतेश्वर	वरुणास्त्रोत	वेणा (न०)
वज्रभव	वरुणा	वेणा-सङ्गम
वज्रेश्वर	वरुणातीर्थ	वेणी
वालखिल्येश्वर	वरुणेश	वैकट
वालीश्वर	वरुणेश्वर	वेणुमती
वालमीकेश्वर	वशिष्टकुण्ड	वेय्या

वितसिका	विरजामण्डल	विश्वेश्वर
वेत्रवती	विरजातीर्थ	विश्ववस्वेश्वर
विभाण्डेश्वर	विरजाद्रि	वितंसा
विदर्भ-सङ्गम	वीरपत्नी	विटंहका
विधीश्वर	वीरप्रमोक्ष	वितस्ता
विदिशा	वीराश्रम	वि-गम्भीरा-सङ्गम
विद्याधर	वीरस्थल	वि-मधुमती-सं०
विद्याधारेश्वर	विरूपाक्ष	वि-सिन्धु-सं०
विद्वर	विशालयूप	वितस्तात्र
विद्यातीर्थ	विशाला	व्रज
विद्येश्वर	विशालाख्यवन	वृद्धकन्यातीर्थ
विहंगेश्वर	विशालाक्षि	वृद्धपुर
विहारतीर्थ	विशल्या	वृद्धा-सङ्गम
विजयेश्वर	विषप्रस्थ	वृद्धि विनायक
विजय	विष्णुचक्रमण	वृन्दावन
विजयलिङ्ग	विष्णुधारा	वृषभाञ्जक
विजयेश	विष्णुगया	वृषभेश्वर
विजयेश्वर	विष्णुकाञ्ची	वृषध्वज
विज्वरेश्वर	विष्णुपद	वृषाकप
विकीर्णतीर्थ	विष्णुपदी	वृषोत्सर्ग
विमल	विष्णुसरस	वृत्रघ्नी
विमला	विष्णुतीर्थ (१०८)	वृत्रेश्वर
विमल	विशोका	व्याघ्रेश्वर
विमलाशोक	विश्रान्तितीर्थ	व्यासकुण्ड
विमलेश	विश्वा	व्याससर
विमलेश्वर	विश्वकर्माेश्वर	व्यासस्थली
विमोचन	विश्वकाय	व्यासतीर्थ
विनशन	विश्वामित्रनदी	व्यासवन
विनायककुण्ड	विश्वामित्रमहानद	व्योमगङ्गा
विनायकेश्वर	विश्वामित्राश्रम	व्योमलिङ्ग
विन्ध्य	विश्वामित्रतीर्थ	व्योमतीर्थ
विन्ध्यवासिनी	विश्वमुख	यजन
विपाश	विश्वपद	याशवलक्यलिङ्ग
विप्रतीर्थ	विश्वरूप	यज्ञवराह
वीरभद्रेश्वर	विश्वरूपक	यक्षतीर्थ
विरज	विश्वरती	यक्षिणी-सं०
विरजा	विश्वेदेवेश्वर	यमलार्जुनकुण्ड

यमंतीर्थ	यमुनेश्वर	ययातिपुरं
यमव्यसनक	यन्त्रेश्वर	ययातीश्वर
यमुना	यष्टि	योगितीर्थ
यमुनाप्रभव	यवतीर्थ	योनिद्वार
यमुनासङ्गम	यायाततीर्थ	युगधर
यमुनातीर्थ	ययातिपतन	❀

टि०:—तीर्थों की इस सूची से भगवान् वायु (दे० वायु-पुराण) का कथन, कि तीर्थों की संख्या साढ़े तीन करोड़ है, अतिशयोक्ति होते हुए भी कितना सार्थक है। अथच इन द्वादशहस्ताधिक तीर्थों की संज्ञायें प्राचीन भौगोलिक अनुसन्धान एवं अन्वेषण की दृष्टि से भी कितनी महत्वपूर्ण हैं यह भी कम जिज्ञासा की बात नहीं। अतएव हमने बिना किसी संकेत-विशेष के, संज्ञामात्र से तीर्थों का उपश्लोकन किया है। यहाँ पर एक तथ्य यह है कि लेखक डा० कारे का अत्यन्त कृतज्ञ है जिन्होंने महती निष्ठा से पुराणों एवं महाभारत आदि प्राचीन साहित्य से इन तीर्थों का सङ्कलन किया है। प्रकृत में उपादेय होने के कारण हमने भी डा० कारे की ही तालिका का अनुगमन किया है।

❀ पूर्ण संख्या लगभग २२००

४

राजाश्रया

हिन्दू प्रासाद की चतुरश्रा पृष्ठ-भूमि में वैदिकी, पौराणिकी एवं लोक-धर्मिणी पृष्ठ-भूमियों के साथ-साथ 'राजाश्रया' का भी कम महत्व नहीं है। भारतीय स्थापत्य का जो प्रोन्नत एवं प्रौढ़ विकास हुआ उसका मूलाधार भले ही धर्म रहा हो परन्तु प्रकाश में राजकुलों ने ही उसे ऊपर उठाया और पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। प्रायः सभी देशों में साहित्य और कला, विद्या एवं वैदग्ध्य, नागरिकता एवं मनोरञ्जन राजदरवार के प्रोत्साहन एवं संरक्षण से पनपे। भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य एवं उसकी परम्परागत चतुर्दश विद्यायें यद्यपि ऋषियों एवं महर्षियों, सूत्रकारों एवं स्मृतिकारों की देन थीं। तथापि वाद का लौकिक साहित्य तो राजाओं के आश्रय से ही प्रोत्साहन को प्राप्त हुआ। कालिदास की कविता-कामिनी की नृत्य-शाला नृपति-श्रेष्ठ विक्रम का दरवार था। अश्वमेध सम्राट कनिष्क के दरवारी थे। भारवि और माघ के राज्याश्रय से हम परिचित ही हैं। भोज का दरवार तो कवि-दरवार ही था। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के कवियों एवं साहित्य-सेवियों के राजाश्रय का इतिहास है। अस्तु, एक दृष्टि से यद्यपि यह कहा जा सकता है कि साहित्य, संगीत एवं कविता विना राजाश्रय के भी इस देश में तथा दूसरे देशों में पनपी—परन्तु कला के विकास के दो ही मौलिक आधार रहे—धर्म एवं राज्याश्रय। इस देश में बौद्ध-कला, जैन-कला तथा ब्राह्मण-कला—सभी के विकास में यह सार्वभौमिक एवं सामान्य सत्य है।

वास्तव में बात यह है कि प्राचीनकाल एवं मध्यकाल का जीवन राजसत्ता से अनुप्राणित रहा। राजा ही प्रजा के एक प्रकार से भौतिक जीवन के उपयुक्त आचार एवं विचार—शिष्टाचार एवं सभ्याचार—के विधायक थे। बड़े बड़े पण्डितों एवं धर्माचार्यों को भी राजकुलों का संरक्षण रहा। उपनिषदों की अत्मविद्या—ब्रह्मविद्या को प्रकाश में लाने का श्रेय राजर्षि जनक का दरवार था। महात्मा गौतम बुद्ध को भी बड़े बड़े राजाओं ने आश्रय ही नहीं दिया स्वयं उनके अनुयायी भी बन गये। उत्तर-वैदिक-काल की सर्वोत्कर्षण वर्तमाना याग-संस्था विना राज्याश्रय प्राप्त किये पनप ही नहीं सकती थी। बहुद्रव्यापेक्ष वैदिक याग को साधारण लोग भला कैसे सम्पन्न कर सकते थे ? बड़े बड़े यज्ञों एवं सत्रों के विधिवत् कर्मकाण्ड में राजाओं की ही धनराशि एवं वदान्यता का सहारा था। अस्तु, एक शब्द में राज्याश्रय ही प्राचीनकाल में धर्म, विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास एवं प्रोत्साहन का एकमात्र साधन था।

भारतीय स्थापत्य के जो अोजस्वी स्मारक (Monuments) आज प्राप्त हैं वे प्रायः सभी राजाओं के बनवाये हुए हैं।

भारत के प्राचीन स्मारकों में पूजा-गृह—मन्दिर प्रमुख ही नहीं एक दृष्टि से वे ही

सब कुछ हैं। इस अध्याय में हम प्रासाद की 'राजाश्रया' पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन में राजकुलों की सूची एवं उनके द्वारा विनिर्मित प्रासादों या विमानों के उल्लेख के प्रथम एक आधारभौतिक उस दृष्टिकोण को पुनः स्मरण कराना चाहते हैं, जिसकी दिव्य ज्योति ने अग्रणीत प्रासादों के निर्माण की प्रेरणा प्रदान की। यह है धार्मिक आस्था। इसी धार्मिक आस्था (देव-मक्ति)—पूर्त-धर्म की सम्पन्नता—स्वर्ग-कामना, पुण्यार्जन, धर्म या परोपकार—को श्रेय है कि इतनी अधिक प्रासाद-कला (Temple architecture) इस देश में विकसित हुई एवं वृद्धिगत हुई। विगत अध्याय में इस पर हम थोड़ी सी समीक्षा कर चुके हैं। यहां पर इतना ही और ज्ञातव्य है कि धर्म के नाम पर जहां अन्य देशों में वड़े-वड़े युद्ध (Crusades), संहार एवं सर्वनाश हुए वहां इस देश में आंख मूंद कर सम्पूर्ण धनराशि एवं वैभव को देव-चरणों में समर्पित करने की प्रेरणा मिली और उसका परिणाम हुआ स्थापत्य की चरम उन्नति।

इसके अतिरिक्त एक और तथ्य है—इस प्रकार के स्थापत्य-विकास में सामाजिक एवं राजनीतिक सुव्यवस्था, सुरक्षा एवं शान्ति की भी बड़ी आवश्यकता होती है। वड़े-वड़े मन्दिर सैकड़ों वर्षों में सम्पन्न हुए—इतना धैर्य, इतनी आस्था, इतनी अविच्छिन्न परम्परा—तभी सम्भव है जब तत्कालीन समाज आध्यात्मिक ज्योति से इतना प्रचोतित हो कि भौतिक वाधायें एवं तथाकथित यातनायें कोई मानी नहीं रखें। ईशवीय पञ्चम शतक से लगाकर पञ्चदश शतक तक इस देश में जो प्रासाद-स्थापत्य पनपा उसकी यही कथा है।

पाषाण एवं इष्टिकाओं से विनिर्मित मन्दिर गुप्तकाल के प्रथम नहीं प्राप्त होते—इससे यह नहीं कहा जासकता उससे पूर्व देवतायतन निर्मित ही नहीं होते थे। भारत की प्राचीनतम या यों कहिये प्रायः सभी देशों की प्राचीनतम वास्तु-कला का विकास सर्वसुलभ मृत्तिका एवं दारु से ही प्रारम्भ हुआ। मूर्तियों के निर्माण में धातु भी एक प्राचीन द्रव्य है; परन्तु प्रासाद-निर्माण में पाषाण का प्रयोग असुरों एवं नागों से आया। अतः प्रासाद-प्रतिष्ठा या मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा देव-स्थान-निवेश की परम्परा को हम तीन दृष्टियों में देख सकते हैं—एक भवन-निवेश के अभिन्न अङ्ग के रूप में, जब देव-स्थानों को देवागार, देव-स्थान, देव-कुल, देवतायतन आदि नामों से पुकारने की परम्परा थी जैसा सूत्र-ग्रन्थों तथा रामायण आदि प्राचीन साहित्य के सन्दर्भों से प्रतीत होता है (इस इतिहास पर 'प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास' नामक अगले अध्याय में विशेष प्रकाश डाला जायेगा); दूसरे भवन-निवेश के समान कुछ विशिष्टताओं से युक्त देव-स्थान का पृथक् निवेश, जो ग्राम, खेट, पुर, (खर्वाट,) आदि नाना जन-वासों का एक अभिन्न अंग था तथा उनके निर्माण में उसी द्रव्य (Material) का उपयोग होता था जो सुलभ थे तथा जो भवनों के निर्माण में समान थे। इसे हम भारतीय आर्यों की प्राचीनतम वास्तु-कला कह सकते हैं जिसके जन्म एवं विकास में मृत्तिका एवं काष्ठ का ही एकमात्र प्रयोग हुआ था। भारतीय वास्तु-कला के प्राचीनतम निदर्शन काष्ठमय एवं मृन्मय भवनों में माना गया है। देव-स्थान के विकास का तीसरा सोपान उसे कहा जायेगा जब अनायों की तक्षण-कला (Stone-masonry) का प्रभाव आर्यों की वास्तु-कला पर पूर्ण परिलक्षित हुआ। अथवा यों कहिये जब आर्यों एवं अनायों के पारस्परिक संसर्ग—आदान-प्रदान, रहन-सहन, आचार-विचार का सभिभ्रण प्रारम्भ हुआ तो आर्यों ने भी अपने देव-स्थान के निर्माण में पाषाण का प्रयोग प्रारम्भ

किया। अतः भारतीय वास्तु-कला में पाषाण-प्रयोग के इतिहास पर थोड़ा सा वक्तव्य आवश्यक है।

उत्तर भारत की वास्तु-कला या प्रासाद-कला को नागर-शैली के नाम से पुकारने की परम्परा पल्लवित हो चुकी है। नागर वास्तु-विद्या का जन्म, विकास एवं उत्थान पर हम आगे लिखेंगे (दे० 'प्रासाद-शैलियों'); परन्तु यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि विद्वानों ने 'नागर' शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या पर नाना आकृत किये हैं (लेखक के भी कुछ आकृत हैं जो वहीं शैलियों के विवेचन में द्रष्टव्य होंगे); उनमें एक आकृत यह हो सकता है कि इस शैली के विकास में नागों (असुरों) का हाथ था। सत्य तो यह है नागर-वास्तु-विद्या, जिसे हमने विश्वकर्मा-परम्परा (Visvakarma-School) माना है उसके विकास में नागराजा शेष का बड़ा हाथ था। स्वर्गीय डा० जायखाल ने भारशिव नागों को नागर-कला का जन्मदाता माना है। इसके अतिरिक्त नागर-वास्तु-विद्या एवं नागर-चित्र-कला की प्राचीन पारस्परिक धनिष्टता का प्रमाण 'विष्णु-धर्मोत्तर' में प्राप्त होता है, तथा नम्रजित के 'चित्र-लक्षण' से पुष्ट होता है। यह नम्रजित नागराजा था; अतः नागर-कला के जन्म एवं विकास में नागों का हाथ अवश्य था। भले ही इसके प्रबल एवं अकाञ्छ्य ऐतिहासिक प्रमाणों का अभी सन्तोषप्रद अनुसंधान नहीं हो पाया है।

विश्वकर्मा ने अपने 'विश्वकर्म-प्रकाश' में स्वयं 'मन्दिर' उसे माना है जो पाषाण-विनिर्मित हो। अथच मानव-वास में पाषाण का प्रयोग आर्य-संस्कृति ने नहीं अपनाया था। विष्णु-धर्मोत्तर (और कामिकागम भी—शिलास्तम्भं, शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्) नरावास में शिला और सुधा के प्रयोग का प्रतिषेध करता है, तथा इसका देव-मन्दिर में प्रयोग विहित बताता है। नागर-वास्तु-कला के विकास में नागों का हाथ अवश्य था—इस पर अग्नि-पुराण एवं विष्णु-पुराण के परिशीलन से कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। अग्नि-पुराण का वक्ता हयग्रीव था जिसे नागराज हय मानना सुसंगत ही है और इसका समय ईशवीयोत्तर द्वितीय शतक के आस पास था। विष्णु-पुराण में, साफ लिखा है कि नागर-कला का उत्थान नागराजा शेष के द्वारा हुआ।

इस उपोद्घात का यहाँ पर प्रकृत में यह प्रयोजन है कि इस देश में जन-वास्तु (Civil Architecture) में पाषाण का प्रयोग बहुत समय तक निषिद्ध रहा। परन्तु अनायों की संस्कृति के संसर्ग से यह प्रतिषेध ढीला पड़ा। पहले पहले बौद्धों ने पाषाण-कला अपनाई पुनः हिन्दुओं ने जब अपनाना प्रारम्भ किया तो सर्वप्रथम देव-स्थानों में उसका प्रयोग किया पुनः अपने निजी प्रासादों—राज-प्रासादों में, तदनन्तर सामान्यजनों की वस्तियों में; अन्यथा पुरातन प्रथा के अनुरूप जन-वास्तु (Civil Architecture) में काष्ठ, मृत्तिका एवं इष्टिकाओं के ही प्रयोग प्रचलित थे। पाषाण-कला का यह राजाश्रय आगे चलकर महा-प्रासादों के निर्माण में निखर उठा।

विभिन्न जानपदीय एवं विभिन्न राजवंशों द्वारा जो विभिन्न मन्दिर इस देश के एक कोने से दूसरे तक निर्मित हुए उनका वास्तु-कला की दृष्टि से विवेचन आगे तीसरे परल में होगा। इस अध्याय की पूर्णता के लिये उन राज-वंशों का निर्देश यहाँ अवश्य अपेक्षित है जिनकी भक्ति-भावना, वदान्यता एवं धर्माचरण की आस्था से यह वास्तु-कला-वैभव पूर्ण

हो सका। भारतीय वास्तु-कला का इतिहास एक प्रकार से भारतीय प्रासाद-कला का इतिहास ही है। वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला दोनों अभिन्न होती हुई भी इतिहास की दृष्टि से इस देश में भिन्न हैं। वैदिक वाङ्मय के परिशोलन से तत्कालीन प्रोन्नत वास्तु-विद्या के दर्शन होते हैं, परन्तु कला के निदर्शन कहाँ? वैदिकोत्तर-कालीन वास्तु-कला का क्या स्वरूप था—सन्दिग्ध ही है। मौर्य-काल से भारतीय वास्तु-कला का इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतीय वास्तु-कला की तीन प्रधान धारयें यहाँ के तीन प्रधान धर्मों के उद्गम से निःसृत हुईं। बौद्ध वास्तु-कला का मूलाधार धर्म था। ब्राह्मणों के मन्दिर धार्मिक-पीठ या तीर्थ अथवा पावन-क्षेत्र के रूप में प्रकल्पित हुए। जैनों की कला में जैन-मन्दिर के अतिरिक्त और क्या है? मूर्ति-निर्माण-कला (Iconography) भी मन्दिर-निर्माण-कला की पूरक थी अतः वह उसी में सन्निविष्ट समझनी चाहिये।

इस दृष्टि से हिन्दू-प्रासाद की इस पृष्ठ-भूमि के मूल्याङ्कन में बौद्ध-विहारों, चैत्यों एवं संधारामों के साथ-साथ जैन-मन्दिरों के राजकुल-संरक्षण आदि पर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे। वैसे तो इन सभी कलाकृतियों में राजाओं के साहाय्य के बिना निष्पन्नता आ ही नहीं सकती थी और उनके निर्माण में भी राजश्रय' प्रधान है तथापि उनका संकीर्तन यहां अप्रासङ्गिक है।

शुंग तथा आन्ध्र राजवंश

अर्चा-गृहों एवं अर्चक-निवासों के आरण्यक, पार्वतीय एवं नागर स्थानों की निर्मिति में सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुंग एवं आन्ध्र राजाओं ने दिया। यद्यपि इस काल की वास्तु-कृतियों के निर्माण में विकास-क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुल प्रयोग हुआ था; अतः वे कृतियाँ प्रत्यन्त बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती हैं; परन्तु सांची, मथुरा, अमरावती, गान्धार आदि के स्मारकों में चित्रित प्राचीन पूजा-गृहों (Primitive shrines) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु-कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यों के बाद शुङ्गवंश का राज्यकाल आता है पुनः आन्ध्रों का। शुङ्ग-सत्ता का उत्तर एवं पश्चिम में विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रों का दक्षिण में। आन्ध्रों ने अपने को 'दक्षिणेश्वर' के नाम से स्वयं संकीर्तन किया है। ये दोनों ही राजवंश बड़े उदार थे। अशोक के समय से बौद्ध-कला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था वह इनके समय में भी आगे बढ़ता रहा। सांची, वरहूत आदि महा कला-पीठों के विकास का गीगणेश इसी समय हुआ। विशेषता यह है कि इनके समय में प्राचीन-पूजा-गृहों (early shrines) के भी निर्माण हुए जो आगे चल कर हिन्दू-प्रासाद की निर्माण-शैली की पूर्वजा प्रतिकृति (prototype) बने। हिन्दू पूजा-गृहों में इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियों में वेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्वंसावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनेक देवस्थान निर्मित हुए जिनकी समीक्षा आगे होगी।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास में राजकुल के संरक्षण का अभाव था—ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध विहार एवं चैत्य थे और उनमें भी विभेद यह था कि उनके विकास

की रूप-रेखा में बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओं—हीनयान एवं महायान—की अपनी अपनी विशिष्टताओं के अनुरूप इन धार्मिक स्थानों—आवास-गृहों एवं पूजा-गृहों की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ एवं एक विशिष्ट कलाकृति गुहा-मन्दिर या लयन-प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु (Rockcut-Architecture) का एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीठों में अमरावती, सांची अजन्ता, जूनार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उड़ीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्फा एवं गान्धार तथा तक्षिला विशेष उल्लेख्य हैं।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास में जहां पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहां पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी, निष्ठा की कमी न थी, श्रम, अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बड़े-बड़े पर्वतों को काट-काट कर जो कला-भवन निर्मित हुये वे आज भी हमारे गर्व की चीज़ हैं।

इस प्रकार यहां के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यों के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे परन्तु वैदिक-कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी। अतः पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ-साथ ईशवीयुत्तर शतकों में ऐष्टिक-भवन (Brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्वप्रथम उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ, वनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि में आती है। पर्सि ब्राडन (See Indian Architecture p. 50) ने ऐसे भवनों को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमें अधिकांश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण-मन्दिर' के नाम से उपलोकित है। इन मन्दिरों में कानपुर जिले में भीटरगांव का ऐष्टिक प्रासाद बड़े महत्व का है जो इष्टिका-चयन-कला की उदात्तता एवं पुष्टता पर ही प्रकाश नहीं डालता है; वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूपरेखा का भी संकेत करता है। भीटरगांव के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश में रामपुर जिले में खरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि में परिगणित किये गये हैं। वाग्ने प्रेसीडेन्सी के शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (Shrines) भी इसी वर्ग-वृत्त की वल्लरियां हैं।

भार-शिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्वास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर-वृत्त (जो नागों का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भार-शिव नाग-राजाओं के समय से ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण भी मन्दिर के तोरण-चौखटों पर अङ्कित होने लगा था। भूमरा और देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी, मन्दिर-निर्माण-कला में, कम देन न थी। इनके समय में शिवालयों का विशेष प्राधान्य था जिनमें एकमुखी एवं चतुर्मुखी लिङ्गों की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरों का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की वास्तुकला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा और गुप्तकालीन मन्दिरों की कला की लड़ी को जोड़ते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्रायः गुप्तकाल के हैं। सम्प्रदाय-भेद से नाग-वाकाटकों के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायानुरूप तथा गुप्तवंशियों के वैष्णव-सम्प्रदायानुरूप हैं।

गुप्त-नरेशों का स्वर्णिम समृद्ध राजवंश

भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त-काल 'स्वर्णयुग' के नाम से संकीर्तित किया गया है। काव्य और नाटक, साहित्य और शास्त्र, कला और संगीत—सभी में इस काल में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त-कालीन कला की ओजस्विता एवं भावाभिव्यञ्जना तथा गतिमत्ता उस काल के अप्रतिम वैभव एवं अनन्त ऐश्वर्य के ही प्रतीक हैं। गुप्तकालीन 'स्तम्भों' में घट-पल्लव (Vase and leaves) का विच्छित्ति-निवेश (Moulding) भी इसी उद्दाम गतिमत्ता एवं द्रुतगति से विस्तार का प्रतीक है।

गुप्त-नरेशों के राज्य-काल में (लगभग ३०० वर्ष—३५०-६५० ई०) उदीयमान भारतीय वास्तुकला की विशेषताओं पर आगे समीक्षा होगी। यहां इतना ही निर्देश्य है कि इस समय की प्रधान कलाकृतियों में जो अब तक विद्यमान है उनमें तिगवा पर कंकलीदेवी का विष्णु-मन्दिर अत्यधिक प्रशस्त है। तिगवा के अतिरिक्त एरण (भिलसा के उत्तर-पूर्व), सांची, नागोद स्टेट में भूभरा और अजयगढ़ के नचना आदि स्थानों के मन्दिर भी उल्लेख्य हैं। इनमें एरण में राजाधिराज समुद्रगुप्त की राजमहिषी का बनवाया हुआ विष्णु-मन्दिर बड़ा सुन्दर है। देवगढ़ के मन्दिर की बाह्य भित्तियों पर शेषशायी नारायण का चित्रण बड़ा ही मार्मिक एवं आकर्षक है।

पांचवीं शताब्दी से आगे की भारतीय वास्तु-कला एक प्रकार से प्रासाद-कला है जिसके प्रोत्थान में यहां के राजकुलों की वरेख्य वदान्यता की गौरवगाथा ही मन्दिरों की गाथा है। अतएव हिन्दू प्रासाद की यह 'राजाश्रया' पृष्ठ-भूमि सार्थक होती है।

चालुक्य नरेश

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तुकला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी वैसी ही उसी काल में (४५०—६५० तथा ६००—७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य नरेशों के संरक्षण से यह कला एक दूसरी ही दिशा में प्रोत्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल, वादामी (वातापि या वितापि) तथा पत्तदकल—इन तीन चालुक्य राजपीठों पर शतशः देवतायतनों—विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ जिनकी सविस्तर समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। इन प्राचीन राजपीठों पर वास्तु-पीठों का जो विकास हुआ उनमें उत्तर-पथीय तथा दक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुषङ्गिक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ, जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (उत्तर-शैली में) तथा संगमेश्वर, विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुन्मेश्वर आदि (दक्षिणात्य वास्तु-शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

राष्ट्रकूट राजा

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७५७-७८३) की अप्रतिम भक्ति भावना एवं धर्माश्रय के कारण ही भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि इलौरा का कैलाश-मन्दिर निर्मित हो पाया था। इसी प्रकार इलौरा और अजन्ता के अन्य गुहामन्दिरों की गाथा है।

दाक्षिणात्य वास्तु-कला

ईशवीयोत्तर सप्तम शतक के बाद षोडश शतक तक निर्मित होने वाले नाना प्रासादों के इतिहास पर ऐतिहासिकों ने दो प्रमुख शैलियों के अनुरूप समीक्षा की है। अतः उसी दृष्टिकोण से हम भी यहाँ पर इन दोनों शैलियों के अनुरूप 'राजाश्रय' का संकीर्तन करेंगे।

दाक्षिणी कला के विकास में निम्नलिखित पांच राजकुलों की वरेण्य वदान्यता एवं वरिष्ठ प्रासाद-कला-संरक्षण प्रस्तावनीय हैं :

१. पल्लव राजवंश	(६००—६०० ई०)
२. चोल राजवंश	(६००—११५० ,,)
३. पाण्ड्य नरेश	(११००—१३५० ,,)
४. विजयनगर ,,	(१३५०—१५६५ ,,) तथा
५. मयुरा ,,	(१६००—)

पल्लव राजवंश

द्राविड-देश में द्राविड-शैली के विकास में पल्लव-राजवंश के संरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओं के अनन्तर द्राविड-देश की राजसत्ता पल्लवों के हाथ में आई और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राजसत्ता का सीमा-प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कला-कृतियों की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र में इनके राज-पीठ कञ्चीवरम् (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तञ्जौर तथा पुडुवकोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशों तक पहुँचा।

इस काल के पल्लव-राजवंश में चार प्रधान नरेश हुए जिनके नाम पर पल्लवों की वास्तु-कृतियों के भी चार वर्ग किये गये हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन चारों वर्गों को वास्तव में वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है—प्रथम में आपूर्ण पार्वत-वास्तु (Wholly rockcut) के निदर्शन तथा द्वितीय में आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly structural) के निदर्शन आपत्ति होते हैं। इनकी विस्तृत समीक्षा आगे की जावेगी। यहाँ पर पूर्वसंकेतित चार राजाओं के कालक्रमानुसार निम्नलिखित चार वर्ग विभाजनीय हैं :

१. महेन्द्र-मण्डल	(६१०—६४०) मण्डप-निर्माण	पार्वत-वास्तु
२. मामल्ल-मण्डल	(६४०—६६०) विमानों एवं रथों का निर्माण	,,
३. राजसिंह-मण्डल	(६६०—८००) विमान (मन्दिर)-निर्माण	निविष्ट-वास्तु
४. नन्दिवर्मन-मण्डल	(८००—९००)	,, ,, ,,

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतियाँ मंदगपट्टु, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम् मोगलार्जुनपुरम् आदि नाना स्थानों पर फैली हुई हैं। द्वितीय वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहाँ के सप्त-रथ (Seven pagodas

की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथों का संकीर्तन पञ्च पाण्डवों और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, सहदेव, गणेश आदि।

तृतीयवर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहामन्दिरों के तन्त्रण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानों एवं प्रासादों की ओर मुड़ता है। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था जिसके काल में मामल्लपुरम पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मकुन्द। पनमलाई (South Arcot Dist.) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरूमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थवर्ग पल्लव राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल में विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव-एवं साहित्य-वैभव राजसत्ता के वैभव की निशानी हैं। अतः जब राजसत्ता का ही हास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीना होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग में प्रमुख निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर, चिंगलपट में औरङ्गदम के वदमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडीमल्लम के परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

चोलों का राजवंश

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता-संघर्ष भारतीय इतिहास की हासोन्मुखी हिन्दू-सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में पल्लवों, चोलों, चालुक्यों, पाण्ड्यों एवं राष्ट्रकूटों—सभी ने इस काल (६००-११५०) में अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामतः चोलों को प्रभुता-संघर्ष में विजय-श्री ने वरा।

चोलों की प्रासाद-कला को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय लुद्र कृतियां तथा बृहत्तर विशाल कृतियां। यतः अपने शासन-काल के प्रभाम में वे राज्य की दृढ़ता, सुरक्षा एवं सीमा-विस्तार में लगे रहे; अतः १०वीं शताब्दी की कृतियां पुडुकोट्टाई के इतस्ततः विनिर्मित हुईं जिन्हें लुद्र-कृतियों के रूप में ही परिगणित किया जा सकता है। इनमें निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं :

लुद्र कृतियाँ

सुन्दरेश्वर	—	तिरुकट्टलाई	मुत्तुकुन्देश्वर	—	कोलटूर
विजयलय	—	नरतमलाई	कदम्बर	—	कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)
मुवरकोइल (त्रि + आयतन)	—	कोडुम्बेलुर	बलमुव्रहायथ	—	कन्नौर

इसी प्रकार चोलों की अन्य कृतियाँ सुदूर दक्षिण अरकाट जिले में भी पाई जाती हैं। ये सभी कृतियाँ १०वीं शताब्दी की हैं।

विशाल कृतियाँ

चोलों की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतियां चोलों के बृहत्तर एवं विशाल राज्य-विस्तार एवं महान ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। ये हैं—तन्जौर का बृहद्देश्वर-मन्दिर तथा गंगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद-कारक यजमान महामहीपति राजराज (६८५—

१०१८) है जिसने अपनी अपार धनराशि एवं लोकोत्तर वैभव को देवचरणों में समर्पित करने के लिये यह महा अनुष्ठान ठाना। ऊँचाई में और आकार में दक्षिणात्य कला का यह अनूठा एवं अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। इसकी विशेष समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। द्वितीय अर्थात् गंगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८—३३) सम्भवतः अपने पूर्वज से प्रतिस्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलों की अनुपम कृतियों में भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्थान की पराकाष्ठा पहुँच गयी। यद्यपि संख्या कम है परन्तु गुणातिरेक से चोलों का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड्य राजकुल

पाण्ड्य राजाओं के काल में प्रासाद-कला में एक अभिनव कला-कृति का उदय हुआ। पीछे के अध्याय में मन्दिरों को हम तीर्थ-स्थानों के रूप में देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू संस्कृति का पौराणिक विलास है। अतः जो भी मन्दिर बन गये—जहाँ कहीं भी देव-स्थान प्रकल्पित हो चुका वह सदा सर्वदा के लिये पूज्य बन गया। अतः वास्तु-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरों के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं अपूर्त-आस्था को प्रश्रय देते। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य-राजाओं के समय में चोलों के विशाल विमानों की रचना नहीं हुई और चोलों के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तामिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्तन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय दक्षिणात्य वास्तु-कला में एक अभिनव वास्तु-चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरों का प्राकार-विन्यास तथा मन्दिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुङ्ग गोपुरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छिन्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी जैसे कञ्जीवरम् के कैलाशनाथ-मन्दिर; तथापि यह परम्परा पूर्णरूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्व-निर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद-पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर-वास्तु-कला की सविस्तर समीक्षा का यहां पर अवसर नहीं है (दे० आगे तृतीय पटल) पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दरसुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

विजय-नगर की राजसत्ता (१३०५—१५३५)

चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध दक्षिणात्य स्थापत्य की प्रासाद कला में एक नवीन युग की सृष्टि करता है तथा दक्षिणी कला का में प्रौढ़ विकास प्रस्तुत करता है—जब कला में अतिरञ्जना एवं अलंकृति-चित्रण (Ornamentation) के साथ-साथ रसास्वाद की भावना ने जड़ पकड़ी। कला के पूर्ण सौष्ट्य की निष्पत्ति में स्थपतियों के स्वाच्छन्द्य एवं उनकी

सौन्दर्य-प्रियता के साथ-साथ तन्मयता भी आवश्यक है। दक्षिण की कलात्मक कृतियों में यह अभिनव विलास तब उदय हुआ जब दक्षिणी राजसत्ता ने विजयनगर के नृपपुङ्गवों के राजवंश में पदार्पण किया। विजयनगर के राजाओं ने दक्षिण महादेश पर लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया। इनके राज्य-काल में प्रासाद-कला अपने यौवन के उद्दाम प्रवाह में बहने लगी जो मोहक थी और चित्तोद्वेलक भी।

भारतवर्ष के मध्यकाल के मोहम्मदीय यवनों के आक्रमणों एवं कठोर शासन से हम परिचित ही हैं। विजय-नगर ने हिन्दू-सत्ता को जीवित रखने का बीड़ा उठाया। यह महानगरी उस समय एशिया की परम प्रख्यात राज-नगरियों में एक थी। कृष्णा से लेकर कन्यान्तरीप तक इस राजकुल का आधिपत्य था और यह नगरी उसका राज-पीठ। तुङ्गभद्रा के पावन जल से पावित यह समृद्ध नगर नाना मन्दिरों के निर्माण का केन्द्र बना।

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिरों में सर्वप्रधान एवं सर्वप्रसिद्ध विट्ठल तथा हज़राराम के साथ-साथ नगर का अधिदैवत-मन्दिर पम्पापति है। इनमें विठोवा (पाण्डुरङ्ग) कृष्ण का मन्दिर (विट्ठल) सर्वश्रेष्ठ है। राजा कृष्णदेव ने १५१३ ई० में इसका निर्माण प्रारम्भ कराया। कृष्णदेव के उत्तराधिकारी ने उसे जारी रखवा परन्तु इस मन्दिर की पूर्णता तब भी न सम्पन्न हुई। हज़राराम एक प्रकार से विजय-नगर का राज-मन्दिर (Royal Chapel) था जिसके चारों ओर का प्राकार (Boundry Wall) २४ फीट ऊँची दीवारों का था। इसे भी कृष्णदेव राया ने १५१३ ई० में बनवाना प्रारम्भ किया था तथा कला-सौष्ठव की दृष्टि से यह अपने समय की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

इन विजय-नगरीय कृतियों की सर्वप्रमुख विशिष्टता पूर्वोद्दिष्ट शोभा-बहुलता (Ornamentation) है; तथा वास्तु-विजृम्भण की दृष्टि से मन्दिर के प्रधान निवेश विमानोत्थान के अतिरिक्त अन्य नाना निवेश एवं गौड़ मन्दिरों का न्यास है। मन्दिर की अधिदेवता (देव) की पत्नी के मन्दिर की प्रतिष्ठा के साथ-साथ कल्याण-मण्डप एवं अर्ध-मण्डप आदि अनेक निवेशों की रचनाओं से मन्दिर पूरा नगर सा प्रतीत होता था।

विजय-नगरीय-साम्राज्यान्तर्गत इसी शैली में अन्य अनेक मन्दिर भी बने जिनमें वेलोर, कुम्भकोणम्, कञ्जीवरम्, ताडपत्री, विरञ्जिपुरम् तथा श्रीरङ्गम के पीठ विशेष प्रख्यात हैं।

मदुरा के नायक-राजा (१६००)

मुसलिम सत्ता से पदाक्रान्त विजय-नगर की राजसत्ता १५६५ ई० में अस्त हो गयी। अतः तामिलदेश की हिन्दू सत्ता दक्षिण की ओर और पीछे लौटी और मदुरा को अपना राजपीठ बनाया। नायकों के नायकत्व में जहां इस सत्ता की प्रभुता प्रतिष्ठित हुई वहां दक्षिणात्य स्थापत्य-शैली की चरमोन्नति ही नहीं प्रतिफलित हुई वरन् यह शैली अपने अन्तिम रूप में भी परिणत हो गयी जो बहुत अंशों में आधुनिक युग तक चली आई।

इस समय के महा वास्तु-वैभव का सर्वाधिक श्रेय नायक राजवंश के सर्वाधिक विख्यात राजा तिरुमलाई (१६२३—१६५६) को है जिसके उदार संरक्षण एवं उद्दाम उत्साह से सुन्दरतम वास्तु-कृतियां उदय हुईं। नायकों ने भी पाण्डुओं के सदृश पूर्वोत्थित प्रासादों पर ही नाना अन्य रचनाओं के द्वारा कला के विकास को प्रश्रय दिया। अथच

पूजावास्तु का वह प्रोस्थान पूजा-प्रक्रिया की औपचारिक पद्धति एवं नाना उत्सव-संभारों की मांग के कारण पूर्ण स्वाभाविक ही था। प्राकारम् और गोपुरम् के साथ-साथ मण्डपम् (सहस्रमण्डपम्, भोगमण्डपम्, उत्सवमण्डपम्, दर्शनमण्डपम्) और तडागम् की रचना की आवश्यकता का अनुभव हुआ; अतएव आविष्कार भी।

मदुरा की दक्षिणी शैली में विनिर्मित मन्दिरों की संख्या वैसे तो लगभग तीस हैं, परन्तु उनमें निम्नलिखित विशेष प्रख्यात हैं जिनकी गौरव-गाथा एवं वास्तु-कला पर हम आगे सविस्तर प्रतिपादन करेंगे :

मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम्	(मदुरा)	रामेश्वरम्
श्रीरङ्गम्	त्रिचनापल्ली के निकट	चिदम्बरम्
जम्बुकेश्वर	" "	तिन्नवेल्ली
तिरवूर	" "	तिरूवन मलाई तथा श्रीवेल्लीपुतुर

दक्षिण महादेश के विभिन्न राजवंशों के राज्याश्रय से विकसित एवं वृद्धिगत दक्षिणात्य प्रासाद-कला की इस अति संक्षिप्त सूचना के उपरान्त अब उत्तर भारत के माण्डलिक राजाओं के राजाश्रय से प्रोत्थित एवं प्रौढगत प्रासाद-कला के इतिहास पर भी थोड़ा सा विहंगावलोकन वाञ्छनीय है। उत्तर भारत पर विकसित इस प्रासाद-कला की शैली को नागर-कला अथवा उत्तर-भारती-कला के नाम से पुकारा गया है। आर्यावर्त (उत्तरापथ या उत्तर-भारत) एवं दक्षिणापथ—भारतवर्ष के इन दो विशाल भौगोलिक भू-विभागों में एक प्रकार से दो प्रकार की प्राचीन संस्कृतियों (क्रमशः आर्य एवं आर्येतर—द्राविड) का विकास हुआ अतएव अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण दो प्रमुख शैलियों का विकास भी स्वाभाविक हुआ। यद्यपि दक्षिणापथ भी आर्यों की सभ्यता एवं संस्कृति से प्राचीनकाल में ही पूर्ण प्रभावित हो गया था तथापि दक्षिण की अपनी कुछ विशिष्टताओं से वहां का जीवन सनातन से कुछ विलक्षण ही रहा।

अस्तु, इसी सांस्कृतिक मूलाधार की दृष्टि से इस देश में वास्तु-विद्या की दो धारयें एवं वास्तु-कला की दो शाखायें प्रस्फुटित हैं। इन दोनों की पारस्परिक क्या-क्या विलक्षणतायें हैं और कौन-कौनसे सामान्य घटक हैं—इन सब पर आगे द्वितीय पटल में 'प्रासाद-शैलियाँ' नामक अध्याय में सविस्तर समीक्षा होगी। यहाँ पर प्रसङ्गवश उत्तरी शैली में विकसित प्रासाद-कला के राज्याश्रय की स्वल्प में समीक्षा का अवसर है।

उत्तरापथीय वास्तु-कला

दक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली—नागर शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राजपीठों में हुआ अतः वहाँ की कला का वर्णन राजवंशा-नुक्रम (dynastically) से विशेष सुविधापूर्ण है; परन्तु उत्तर भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था अतः उत्तरी प्रासाद-कला की राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने समीक्षा

करने में कठिनता अनुभव की है। तदनुरूप स्थानीय केन्द्रों से इस शैली का विवेचन किया गया।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (regional development) के अनुरूप स्थानीय कला-केन्द्रों का निम्नलिखित पङ्क्ति समुपस्थापित किया जाता है:

१. उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) — भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी।
२. बुन्देलखण्ड — खजुराहो।
३. मध्य भारत एवं राजस्थान।
४. गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़।
५. सुदूर दक्षिण (खान देश)।
६. मथुरा-वृन्दावन।

प्रकृत में हम इस क्रम को नहीं अपना सकते (यह क्रम आगे तृतीय पटल में दृष्टव्य होगा)। इस अध्याय के शीर्षकानुरूप राजवंशानुक्रम से ही विवेचन समीचीन है।

केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ

उत्तरी शैली की कला-कृतियों में सर्वप्रथम सङ्कीर्तन केशरी राजाओं का राज-पीठ—भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म-क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय 'लिङ्गराज' के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर केशरी राजाओं की राजधानी रहा है। केशरी राजाओं के चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ११वीं शताब्दी तक उड़ीसा-मण्डल के मन्दिरों में भुवनेश्वर की मन्दिर-माला के अतिरिक्त २ मन्दिर-पीठ और विशेष विख्यात हैं—कोनार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर।

कोनार्क को किसने बनवाया—असन्दिग्ध रूप से निर्णय नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवतः ६वीं शताब्दी में विनिर्मित हुआ था और १६वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एवं कलेवरता में विद्यमान था क्योंकि आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध होकर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नहीं एशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है। लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर में ढका हुआ पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रूपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था तब लोगों को इस महिमायुग्म वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला। इसकी वास्तु-कला एवं अन्य विभिन्न विवरण आगे समुपस्थापित होंगे।

पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एवं कारक-न्ययमान पर भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री मनमोहन चक्रवर्ती (See his paper on the date of Jagannatha temple in Puri—J.A.S.B., Vol. 67 for 1898, pt. 1 pp. 328-331) ने निम्नलिखित श्लोक—

प्रासादं पुरुषोत्तमस्य नृपतिः को नाम कर्तुं क्षम-

स्तस्येत्याद्यनूपैरुपैरुत्तमयं चक्रोऽथ गङ्गेश्वरः ॥ (गङ्गवश ताम्रपत्र)

के आधार पर इस प्रासाद को गङ्गेश्वर (गोडगंग) का बनवाया हुआ बताया है । यतः गोडगंग का राज्याभिषेक १०७८ ई० में हुआ था अतः इस मंदिर की तिथि १०८५-१०९० मननोहन ने मानी है । इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार ('God Purusottama at Puri'—J. O. R., Madras Vol. 17. pp. 209-215) ने उड़िया के प्रख्यात पुराण (Chronicle)-मादला-पाञ्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोडगंग को न देकर उसके दरपोते (great grandson) अनङ्गभूमि तृतीय को देते हैं । मित्र तथा हन्टर महाशय (cf. 'Antiquities of Orissa' Vol. II. pp. 109-110 & 'Orissa' Vol. I. pp. 110-102) भी इसी मत का पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं :—

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनचत्रनायके ।

प्रासादं कारयामासानङ्गभीमेन धीमता ॥

(also cf. 'History of Orissa' by Dr. R. D. Bannerjee)

अस्तु, इस एतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे का अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है । इसकी मूर्तियाँ तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं—सम्भवतः ईशवीयत्तर तृतीय शतक की । मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया । कहा जाता है १६ वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था ।

अस्तु, केशरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चौवालीस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया । ययाति (८ वीं श०) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ । हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्राचीन गरिमा एवं भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिये इसे उपयुक्त समझा ।

कहा जाता है केशरी राजाओं ने इस स्थान पर सात हजार मन्दिर बनवाये थे । अब भी बहुसंख्यक मन्दिर विद्यमान हैं । इनमें ईसा की पाचवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक के मन्दिर मिलेंगे । पुण्य-पुरी एवं प्रख्यात क्षेत्र काशी को छोड़कर भारत में कदाचित् ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहाँ इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ निर्मित हुए हों ।

इन मन्दिरों में मुख्य मन्दिर श्री लिङ्गराज जी का है । ललाटेन्दु केशरी (६१७ से ६५७ ई०) ने इसका शिखर निर्मापित कराया था । भुवनेश्वर के प्रामादों एवं प्रासाद-स्थापत्य पर हम विशेष विवेचन आगे करेंगे । लिङ्गराज के अतिरिक्त अन्य प्रमुख मन्दिरों की माला का दिग्दर्शन हमारे प्रतिमा-विज्ञान (दे० प्र० वि० की पृष्ठ-भूमि पूजा परम्परा अ० १०, पृ० १६५) में विलोकनीय हैं ।

चन्देलों का वास्तु पीठ खजुराहो

खजुराहो इस समय एक छोटा सा गाँव है, परन्तु किसी समय यह जभोती (यजुहोती) प्रान्त की राजधानी थी । यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था । सम्भवतः 'यजुहोती' इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पड़ा । चन्देल राज-वंशीय राजन्यों में यशोवर्मन एवं उसके पुत्र धंगदेव का विशेष गौरव है जिन्होंने इस राज-वंश की नींव को सुदृढ़ बनाने में कसर न रखी ।

महोत्रा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवीं शताब्दी में चन्देल राज्य की नींव डाली थी। ८ वीं से लगाकर लगभग १६ वीं शताब्दी तक चन्देलों का प्रभुत्व रहा। चन्देलों का मुख्य स्थान कालिन्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोवा। खजुराहों को उन्होंने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना।

बुन्देलखण्ड-मण्डल की शिल्प कला का प्रतिनिधि ही नहीं सर्वस्व खजुराहों के मन्दिर हैं। इनमें कंडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एवं सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानतः दसवीं शताब्दी में राजा धंगदेव ने बनवाया था। कहा जाता है निनोरा ताल, खजुराहों गांव और निकटवर्तिनी शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्ततः प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे। उनमें से अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान हैं।

चन्देलों की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होंने अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बर्ती। वैष्णव धर्म जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म—सभी के स्मारक चिन्ह यहां पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहां पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहों के विद्यमान प्रासादों के अन्यतम निदर्शनों की पुष्पमालिका के सौरभ का आनन्द पाठक प्रतिमा-विज्ञान के १६६ पृ० पर ले सकते हैं। विशेष विवक्षा का अवसर तो तृतीय पटल में ही प्राप्त होगा।

राजस्थानीय एवं मध्यभारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत में दैवदुर्घिपाक से शतशः मन्दिर मुसलमानों के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरों के नाश की कथा—मध्यकालीन मुस्लिम सत्ता की कलङ्क-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अतः बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशेष हैं।

राजपूताने में यवनों का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर में दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला धानमंडी में 'महामन्दिर' नाम से विख्यात है जिसमें अनेक शिखर हैं तथा जिसका मण्डप सहस्रस्तम्भ है। दूसरा एक-शिखर मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य में भी दो बड़े सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। उदयदिश परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा में वंशश्रेष्ठ है। 'एकलिङ्ग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी में श्वेत संगमरमर का है। कहते हैं कि 'एक-लिङ्ग' की स्थापना मेवाड़ के आदि पुरुष वाप्पा रावल के समय में हुई थी और ईसा की १५वीं शताब्दी में महाराणा कुम्भ ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना के पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमें सास बहू (सहस्रवाहु) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवतः ७वीं या ८वीं सदी में हुई। फार्गुसन के मत में यह ११वीं शताब्दी में बना था।

मध्यप्रान्त के ग्वालियर का 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरों में जिन्हें कलचुरि राजाओं ने बनवाया था चौसठ जोगिनियों का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरों का वर्णन नहीं विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहाँ पर विभिन्न देवों के मन्दिरों की संख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें एक मन्दिर सूर्य का भी है। राजपूताना के मन्दिरों की गाथा में आबू पर्वत पर बने हुए जैन मन्दिरों का संकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं और संगमरमर पत्थर के बने हैं। करोड़ों रुपियों की लात उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओं का कहा जाता है। इन मन्दिरों की कारीगरी दर्शनीय है।

सोलंकी राजवंश का प्रासाद-निर्माण-संरक्षण

उत्तरभारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एवं कच्छप्रदेश आधुनिक काठियावाड़ रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरों का ही निर्माण नहीं हुआ वरन् प्रासाद-कला में एक नवीन शैली (लाट शैली—दे० आगे का अ० 'प्रासाद-शैलियाँ') का भी विकास हुआ। इस वास्तु-नैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ़ एवं सभृद्ध सोलंकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलङ्कियों के राज्याश्रय में पनपी प्रासाद-कला १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलङ्कियों के राज्याश्रय-प्राप्त मन्दिरों में गुजरात में सुनक, कनोदा, देलमल तथा कसरा के मन्दिर १०वीं शताब्दी में; मोधारा का सूर्यमन्दिर ११वीं शताब्दी में तथा सिद्धपुर पर रुद्रमल का मन्दिर १२वीं शताब्दी में विनिर्मित हुए। इसी प्रकार काठियावाड़ में घुमली और सेजाकपुर पर नवलखा मन्दिरों का ११वीं शताब्दी में निर्माण हुआ और सोमनाथ का विश्वविश्रुत मन्दिर द्वादश शतक में पुनरुद्भूत हुआ।

इस मण्डल के मन्दिरों में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नहीं। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है जो सिन्ध से आसाम तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड़ के दक्षिण समुद्रवेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२-१०७२) ने ही प्राचीन मन्दिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था।

गुजरात और काठियावाड़ के मण्डलीक मन्दिरों की विरुदावली के बखान में काठियावाड़ की दो पहाड़ियाँ—शनुञ्जय पर्वत तथा गिरनार पर्वत हैं जहाँ पर जैनियों ने एक नहीं अनेक मन्दिर बनवाये यहाँ तक ये स्थान मन्दिर-नगर temple-cities के नाम से संकीर्णित हैं। कहा जाता है इन मन्दिर-नगरों में रात में तीर्थ-यात्री टिकने नहीं पाता।

इन मन्दिरों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात् ११वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चित ही है परन्तु १३वीं शताब्दी में इस प्रदेश में एक अभिनव

मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रेय हेमदपन्त को है जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। वह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषों में परिगणित करते हैं। वास्तव में वह देवगिरि राजवंश के रामचन्द्र देव (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधानमात्य था। इसने सैकड़ों मन्दिर वनवाये और इन मन्दिरों का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली में हुआ।

हेमदपन्त के पूर्व विनिर्मित मन्दिरों में थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश में बालसने पर विराजमान त्रिआयतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नहीं हैं। इसी प्रकार नासिक जिले में सिन्नार पर गोरडेश्वर, भोगडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले में पेदगांव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध हैं। निजाम हैदराबाद के राज्य में नागनाथ का मन्दिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मन्दिर ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच में बने।

अब रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल - मथुरा-वृन्दावन, वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और राज.ओं के अतिरिक्त सेठों, साहूकारों एवं साधारण भक्तजनों का भी संरक्षण इन मन्दिरों की रचना में कम नहीं है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडास्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अति प्रशस्त प्रदेश था, परन्तु यहां के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास में मुसलमानों की संहारकारिणी पैशाची प्रवृत्ति के निदर्शनों की कमी नहीं परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर के औदार्य एवं अन्य-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के अतिनिकट वृन्दावन में उसी काल में पांच प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन पांच मन्दिरों के नाम से हम सभी परिचित हैं:—

१. गोविन्ददेवी २. राधावल्लभ ३. गोपीनाथ ४. जुगुलकिशोर तथा ५. मदनमोहन

इन मन्दिरों के निर्माण में यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्राञ्जल एवं अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राजाश्रय के रूप में मूल्याङ्कन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियों में औरङ्गजेब की नृशंसता से हम सभी परिचित हैं जिसके समय में इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्ददेवी वा ध्वंस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी प्राचीन गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरों के सम्बन्ध में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-शैली में एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एवं खजुराहो के मन्दिरों पर जो मूर्ति-विन्यास-प्राचुर्य देखा जाता है वह यहां पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरों के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सि ब्राउन को इस नवीनता में मुसलिम कला का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में, जैसा हम आगे तृतीय पटल में विशेष विवेचन करेंगे, यह नवीनता उत्तर मध्यकालीन लाटशैली को अति अतिरञ्जनात्मक-शैली की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है।

हिन्दू प्रासाद-कला का यह विहङ्गाकलोकन वास्तव में अधूरा ही रहेगा यदि हम उत्तरापथ के अन्य कतिपय समृद्ध केन्द्र-शिखरों पर कुछ देर के लिए और विहार न कर लें।

इनमें सर्व-प्रथम संकीर्तन दंगाल-बिहार-मण्डलीय मन्दिरों का होना चाहिए जहाँपर ईशवीयो-त्तर अष्टमशतक से लगाकर अष्टादश शतक अनेक मन्दिर बने और कतिपय आज भी विद्यमान हैं। बंगाल के पाल और सेन राजवंश का कलासंरक्षण प्रसिद्ध है। पालवंशीय वास्तु-कला के प्रमाण मूर्तियों में तो खूब मिलते हैं परन्तु मन्दिरों के एकाध ही स्मारक हैं। कन्तनगर (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मन्दिर विशेष उल्लेख्य है। अन्य प्राचीन मन्दिरों के विवरण आगे द्रष्टव्य होंगे। प्राचीनों में खिचिंग (मयूरभञ्ज) तथा अर्वाचीनों में विष्णुपुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहाँ के मन्दिरों की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य-प्रदेश के अनु-कूल ही हैं। काश्मीर-के मन्दिरों में सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इसको काश्मीरनरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवीं शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शङ्कराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखे हैं। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवीं शताब्दी) आते हैं। इनमें अवन्ति-स्वामि का विष्णु मन्दिर तथा अवन्तीश्वर शिव-मन्दिर विशेष प्रख्यात हैं। इनके निर्माण में काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों का हाथ था।

शंकरवर्मन (जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुआ) ने भी बहुसंख्यक मन्दिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं।

काश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नेपाल-मण्डल के मन्दिरों का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल में तो घरों से अधिक मन्दिर हैं। यहाँ बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों के मन्दिर मिलते हैं। स्वयम्भूनाथ का स्तूप, बुद्धनाथ का मन्दिर और चगुनाथ का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो मन्दिरों का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी रथापना उस सुदूर अतीत में हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध-भिक्तु के रूप में नेपाल की तीर्थ-यात्रा की और उसकी स्मृति में अगणित स्तूपों का निर्माण कराया, उन्हीं में दो ये भी हैं।

मुल्लराजाओं के राज्याश्रय से नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पड़ी। इस राजवंश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिथि तथा यक्ष (१४वीं तथा १५वीं शताब्दी) ने जिस राज-निवेश योजना लेकर चले उसमें पूजा-वास्तु तथा जन-वास्तु (religious and secular architecture) दोनों को ही पल्लवन-प्रश्रय प्राप्त हुआ।

भारत के दक्षिण एवं उत्तर के इस प्रासाद-वास्तु-वैभव की थोड़ी सी भौकी देखने के बाद दक्षिण में पुनः पदार्पण करें तो सिंहलद्वीप (लंका) का स्मरण अवश्य आ जाता है, आगाध समुद्र-जल-राशि भी व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाती। आधुनिक भारतीय-जीवन रामचरित से अधिक प्रभावित है तो रामचरित में रावण को कौन भूल सकता है ? लंका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आज-कल तो सिंहलद्वीप में वास्तु-कला की दृष्टि से वहाँ के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। यतः यह स्थान अति प्राचीन समय में ही बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था अतः वहाँ पर हिन्दू प्रासादों को कौन प्रश्रय देता ? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिवभक्त था तथापि मन्दिरों के नाम से

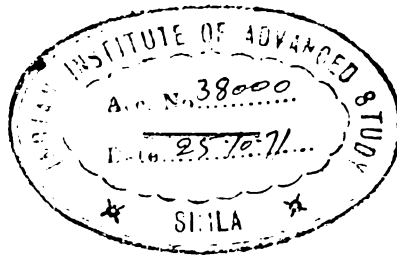
लंकातिलक (जेतवनराम) मन्दिर (१८वीं शताब्दी) का तो संकीर्तन कर ही लेना चाहिए । इस में दुद्ध भगवान की जो मूर्ति खोदी गयी है वह लगभग ६० फीट की है । सिंहलद्वीपीय स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दार्ष्टान्त्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है । वहां के स्थापत्य में पार्वत-वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण मात्रा में ।

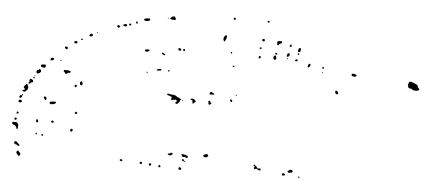
सिंहलद्वीपीय कला के इस क्लिष्टकर आलोचन के उपरांत वर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी नितांत प्रासङ्गिक है । यहां का काष्ठ-स्थापत्य (wooden Architecture) बड़ा स्तुत्य है । वैसे तो वर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास धारयें हैं परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मन्दिर ही विशेष विख्यात हैं । इनमें पागन के मन्दिर दर्शनीय है । यह एक मन्दिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है । उत्तर-मध्यकाल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का सुन्दर देश मण्डित है । माण्डले के इतस्ततः बहुसंख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ ।

भारतवर्ष की इस प्रासाद-राशि के उच्च शिखर से कुछ अनायास अग्रणित कण सांस्कृतिक भोंकों से ऐसे उड़े कि भारत से बाहर द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना प्रदेशों में बिखर गये । काम्बोडिया, स्याम, चाम्स (Chams—अन्नाम—इन्डोचाइना) जावा और वाली आदि द्वीपान्तरों में बहुसंख्यक निर्दर्शन हिन्दू-प्रासाद के पोषक प्रमाण हैं ।

कम्बोडिया के अंग्कोरवट नामक मन्दिर की छटा दर्शनीय है जो वहाँ के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ारही है । यहां के बयोन (Bayon) मन्दिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वाञ्छित है । इसी प्रकार कम्बोडिया के वत्तेयस्त्री या वैनतैयश्री मन्दिर का निर्माण खमेर राजवंश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ । स्याम का महाधातु मन्दिर तथा अन्नम (फ्रेंच इण्डो चाइना) में जो मन्दिर है उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपश्लोक्त है । भीममन्दिर, पुन्द्रदेव-मन्दिर, प्रम्बनय, पनतरम, आदि विशेष उल्लेख्य हैं ।

अस्तु, हिन्दू-प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में राज्याश्रया के इस विहङ्गावलोकन में जिस उद्धान के साथ हम उठे उसमें तो पृष्ठ-भूमि (foundation) से शिखर पर विराजमान होगये अतः अब वहाँ से उतर कर भूतल पर वास्तु-मर्म का अवगमन करें ।







Library IAS, Shimla

H 722.41 Sh 92 H



38000